# विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्यः नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।



विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।


लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता:—

संपादक, 'विश्वभारती पत्रिका',

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

# विश्वभारती पत्रिका

चैत्र-ज्येष्ठ, २०२५ खण्ड ६, अंक १ अप्रेल-जून १६६८

## विषय-सूची

## इस अंक के लेखक, कलाकार ( अकारादि क्रम से )


काकासाहेब कालेलकर, प्रसिद्ध लेखक और विचारक, सन्निधि, राजघाट, दिल्ली।

चन्द्रशेखर, अध्यक्ष स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, लायलपुर खालसा कालेज, जालन्धर।

चन्द्रशेखर प्रसाद, शोध छात्र, चीन भवन, शान्तिनिकेतन।

बापचन्द्र महन्त, अध्यापक, गोहाटी, असम।

माताप्रसाद गुप्त, निदेशक, क० मु० भाषा विज्ञान एवं हिन्दी विद्यापीठ, आगरा।

राजेन्द्र मिश्र, अध्यापक, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

रामकिंकर बैज, अध्यापक, कलाभवन, शान्तिनिकेतन।

रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिंदी भवन, शान्तिनिकेतन।

वारीन्द्र कुमार वर्मा, रिसर्च फेलो, दर्शन विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

विश्वरूप बसु, अध्यापक, कलाभवन, शान्तिनिकेतन।

शालिग्राम गुप्त, अध्यापक, हिंदी विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

हरदयाल, अध्यापक, हिंदी विभाग, डिग्री कालेज, मोदीनगर ( उ० प्र० )।

# विश्वभारती पत्रिका

खण्ड ८ की अनुक्रमणिका

चैत्र २०२४—फाल्गुन २०२४

अप्रैल १९६७—मार्च १९६८

संपादक

रामसिंह तोमर

# लेखानुक्रमणिका अकारादि क्रम से

## खण्ड ८ चैत्र २०२४ से फाल्गुन २०२४

ड

| विषय | लेखक | पृष्ठ |
|---|---|---|
| संस्कृत काव्य परम्परा में वार्ताकाव्य | जयशंकर त्रिपाठी | १५ |
| संस्कृत काव्य शास्त्र में 'लक्षण' तत्त्व एवं उसका दशपक्षी सिद्धान्त | राजेन्द्र मिश्र | ३२३ |
| सामंजस्य | रवीन्द्रनाथ ठाकुर | २०९ |
| साहित्यिक कथानक अभिप्राय अथवा कथानक रूढ़ियाँ | कैलासचन्द्र शर्मा | १६७ |
| साहित्य समीक्षा (समी०) | द्विजराम यादव | ३०५ |
| स्मृति में | रामसिंह तोमर | २०३ |
| स्मृति में | रामसिंह तोमर | ३०७ |
| हिन्दी रीति-काव्य के संदर्भ में पत्र-पुष्पादि से निर्मित भारतीय भारतीय आभूषणों का अध्ययन | लल्लन राय | १८८ |

# लेखकानुक्रमणिका [ अकारादि क्रम से ]

( चैत्र २०२४—फाल्गुन २०२४ )

विश्वभारती पत्रिका

चैत्र-ज्येष्ठ, २०२५ खण्ड ६, अंक १ अप्रेल-जून १९६८

# कोकिल

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आज विकाले कोकिल डाके,
शुने मने लागे
बांग्लादेशे छिलेम येन
तिन-शौ बछर आगे।
से दिनेर से स्निग्ध गभीर
ग्रामपथेर माया
आमार चोखे फेलेछे आज
अश्रुजलेर छाया।

पल्लीखानि प्राणे भरा,
गोलाय भरा धान,
घाटे शुनि नारीर कण्ठे
हासिर कलतान।
सन्ध्यावेलाय छादेर 'परे
दखिन-हावा बहे,
तारार आलोय कारा व'से
पुराण-कथा कहे।

फुल-बागानेर बेड़ा हते
हेनार गन्ध भासे,
कदम-शाखार आड़ाल थेके
चाँदटि उठे आसे।

बधू तखन बिनिये खोंपा
चोखे काजल आँके
माझे माझे बकुल-वने
कोकिल कोथा डाके।

तिन-शो बछर कोथाय गेल,
तबु बूझि नाको
आजो केन, ओरे कोकिल,
तेमनि सुरेइ डाको।
घाटेर सिड़ि भेङे गेछे,
फेटेछे सेइ छाद—
रूपकथा आज काहार मुखे
शुनबे साँझेर चाँद?

शहर थेके घण्टा बाजे,
समय नाइ रे हाय—
घर्घरिया चलेछि आज
किसेर व्यर्थताय।
आर कि बधू, गाँथ माला,
चोखे काजल आँक'?
पुरानो सेइ दिनेर सुरे,
कोकिल केन डाक'?

बोलपुर
२९ वैशाख (१३१३)—१९०६ ई०।

( मूल बंगला कविता का हिन्दी में छायानुवाद )

आज शाम को कोयल बोली, सुन कर मन को लगा जैसे तीन सौ वर्ष पूर्व के बंगाल में होऊँ। उस काल की उस स्निग्ध, गभीर ग्रामपथ की ममता ने आज मेरी आँखों को आँसुओं से सिक्त कर दिया।

प्राणों से पूर्ण ग्राम प्रदेश, धान से भरा भण्डार, घाट पर हँसी की मधुर तान से पूर्ण नारी कण्ठ सुन रहा हूँ। संध्यासमय छत के ऊपर दक्षिण-हवा चल रही है। तारागणों के आलोक में बैठे हुए कौन पुराण-कथा कह रहे हैं? फूलों की बगिया के बेड़े से हिना की सुगंध फैल रही है, कदम-शाखा की आड़ से चाँद ऊपर उठ रहा है। उस समय बधू जूड़ा बाँध कर आँखों में काजल लगाती है। बीच बीच में बकुल बन में कहीं कोयल बोल पड़ती है।

तीन सौ वर्ष कहाँ चले गए, तो भी समझ नहीं पाया, आज भी ओ कोयल! उसी भाँति के सुर में बोलती हो। घाट की सीढ़ियाँ टूट गई हैं, वह छत फट गई है, संध्या का चाँद आज किसके मुँह से रूपकथा सुनेगा?

शहर से घंटे को आवाज आ रही है, हाय! समय नहीं है—किस व्यर्थता में आज घर्घर करता चला जा रहा हू। क्या बधू अब भी माला गूंथती है? क्या आँखों में काजल लगाती है? उस अतीत के पुराने सुर में कोयल क्यों पुकारती है?

[ अनु० रा० तो० ]

# रीतिकालीन स्वच्छन्द कवियों का अभिव्यंजना सम्बन्धी दृष्टिकोण

चन्द्रशेखर

स्वच्छन्द कवियों जैसे स्वप्नशील प्रणयजीवी, एकांतमुख, मस्त, तथा मर्यादा एव रीतिविमुख जीवों द्वारा अभिव्यजना के विधिवत परीक्षण व प्रतिपादन की बात सोचना युक्तिपूर्ण न होगा। उनकी रचनाओं में इतस्तत बिखरे कुछ काव्यांशों के आधार पर उनके विचारों को जानने में सहायता अवश्य ही मिल सकती है।

अभिव्यजना घनानन्द

घनानन्द जैसे आत्म केन्द्रित, सिद्ध-योगी से काव्यांगों के शास्त्रीय निरूपण की अपेक्षा करना उचित नहीं, क्योंकि जिस निर्बाध, एव सर्व-निरपेक्ष उदात्त मनोभूमि में ये ध्यानावस्थ थे वहां आत्मा के निसर्ग सगीत की सहज निसृति के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रकार के सम्यक् विवेचन की समावना नहीं थी। अत घनानन्द की रचनाओं में अभिव्यजना का कोई विधिवत विश्लेषित स्वरूप तो नहीं मिलेगा परन्तु कहीं कहीं कोई ऐसा सूत्र अवश्य ही मिल जाएगा, जिसके आधार पर कवि के विचारों का अनुमान लगाया जा सकता है, जिसे विश्लेषण की सुविधा के लिए इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है —

१—अनुभूति पक्ष। २—अभिव्यक्ति पक्ष।

अनुभूति पक्ष —कवि शुद्ध आत्मानुभूत को ही वरेण्य मानता है। अननुभूत का काव्य में कोई महत्व नहीं। कवि-कथ्य का अनुभूत होना अनिवार्य है। कवि काल्पनिक अनुभूति की अपेक्षा प्रत्यक्ष दर्शन को वांछनीय मानता है। इसके अभाव में किसी भी अभिव्यक्ति की कोई सगति नहीं।१ बिना साक्षात्-दर्शन के प्रणीत रचना औचित्य हीन है।२ आत्मा में अनुभूति के प्रकाश से एक दिव्यानन्द प्राप्त होता है। सभी द्वन्द्व एव दुविधायें तिरोहित हो जाती हैं।३ ऐसा अनुभूतिजन्य आनन्द शब्दातीत और अनभिव्यक्त ही रहता है,४ परन्तु उसकी अभिव्यक्ति की व्यग्रता बराबर बनी रहती है।५

१ बिना देखी कहै तौ कहा तिन्हैं प्रतीति है। ( सु० हि० २०१ )।

२ गोकुल की छवि कवि क्यों कहैगो जब लौं गोकुल नहि गहै। ( गो० च० २ ),

३ प्रकटी अनुभव चन्द्रिका भ्रम तम गयो विलाय। ( अनु० च० ५४ )।

४ जो सुख सबनि अगोचर आहि, कैसे बरनि बतैये ताहि। ( व्र० स्व० १७ )।

५ मरु रसना को यह कथा, बिना कहे नहि चैन। ( व्र० व्य० १४७ )।

अभिव्यक्ति पक्ष :—कवि का विश्वास है कि समस्त अनुभूत की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति तो सम्भव नहीं, परन्तु वह अत्यन्त अनिवार्य है, अन्यथा रोम रोम रुद्ध हो जाएगा, शिरा शिरा में गाँठ पड़ जाएगी और एक घातक घुटन से मन घुटने लगेगा। ऐसी अवस्था में कलाकार अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति की पीड़ा को भोगता है।६ अनुभूत जब अभिव्यक्त नहीं होता है तब अन्त:करण अवरोध के ज्वालामुखी से आन्दोलित हो उठता है।७ यदि रोम रोम भी उसे निष्कृति देना चाहे तो भी विषम अनुभूतियों को ज्वाला मन्द नहीं पड़ती है।८ अनन्त शाब्दिक अभिव्यक्तियों से भी वह ज्वार शांत नहीं होता है।९ इस प्रकार कवि की मान्यता है कि अभिव्यक्ति अन्तःकरण में परिव्याप्त अनुभूतियों की सर्वांशता को प्रकट करने में अक्षम है।

कवि मानता है कि अभिव्यक्ति एक स्वतःजात एवं अनायास एवं अयांत्रिक परिणति है। कई प्रत्यक्ष दर्शन इतने संवेद्य होते हैं कि अभिव्यक्ति बरबस ही शब्दान्वित हो जाती है,१० परन्तु अभिव्यक्ति के विविध उपादान इतने सम्पन्न नहीं कि समग्र अनुभूत का उचित संवाहन कर सकें। रसना, भाषा एवं छन्द इस कार्य के लिए सर्वथा सामर्थ्यहीन हैं। रूप-अरूप संवेदनों का ग्रहण जो इन्द्रियाँ करती हैं, उन द्वारा भी उस अनुभूत की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है।११

कवि के लिए भाषा का सर्वोपरि महत्व है। वह ऐसा वसन है, जो श्वास प्रश्वास के अनुराग-संवेदित धागों से बनता है।१२ वैसे माध्यम का संकट कवियों के लिए सदा ही बना रहा है।

---

६. कहिये किहि भाँति दसा सजनी अति ताती कथा रसनाहि दहै।
अरु जो हिय ही मधि घूंटि रहौं तो दुखी जिय क्यों करि ताहि सहै।
(सु० हि० १४०)।

७. विषम उदेग आगि लपटैं अन्तर लागें कैसे कहौं जैसे कछू तचनि महातई।
फूटि फूटि टूक टूक ह्वै के उड़ जाय हियो (सु० हि० २८०)।

८. रोम रोम रसना ह्वै लहै जो गिरा के गुन,
तऊ जान प्यारी! निबरै न मैन-आरते॥ (सु० हि० १८४)।

९. रसना पुकारि के बिचारी पचिहारि रहै।
कहैं कैसे अकह, उदेग-रुधियै मरौं। (सु० हि० २०९)।

१०. गोकुल छवि आंखिन ही भावै, रहि न सकै रसना कछु गावै (गो० गी० १६)।

११. जो कछु निहारे नैन, कैसे सो बरनै बैन, सु० हि० २०१।

१२. सूछम उसास गुन बुन्यौ ताहि लखै कौन,
पौनपट रंग्यो पेखियत रंग राग में॥ (सु० हि० ४४२)।

कवि ने अभिव्यक्ति के सृजन-सुख को भी स्वीकार किया है। भले ही अनेक उपकरणों द्वारा अनुभूत की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति संभव न हो, परन्तु यत्किंचित अभिव्यक्ति भी कवि को आनन्दान्वित करती है। कवि का सृजन आत्म संबोधन है। वह आत्मानन्द के लिए ही उसका प्रणयन करता है।१३ उसका प्रणयन और प्रकाशन, दोनों ही आनन्ददायी हैं।१४ एक अथवा लघु अभिव्यक्ति भी परम सुखात्मक है।१५ उसकी निरंतर प्रक्रिया अविराम सुखदायिनी है।१६ इस प्रकार अनुभूतियों का प्रणयन अद्भुत रस वर्षण करता है।१७

कवि अभिव्यंजना द्वारा ग्रन्थि मोचन, एवं व्यथा विरेचन भी मानता है। उस द्वारा आत्मा निर्मल, निष्कलुष एवं निष्पाप होती है।१८ ऐसा आत्म विसर्जन कवि को उस उदात्तावस्था में ले जाता है, जहाँ उसकी अभिव्यक्तियाँ सर्वथा माध्यम निरपेक्ष बन जाती हैं। कवि अभिव्यंजना के आंतरिक प्रकाश से आनन्दान्वित होने लगता है। मौन ही उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है।१९ उसकी अभिव्यंजनाकुल आत्मा मौन द्वारा ही पुकार करती है।२० वह मौन वचनों द्वारा ही संबोधन करता है।२१ इसी मौन भाव से उनकी भाषा अवगुंठित रहती है,२२ जो सब की पहुँच से दूर है,२३ जिसे कोई विशेष संवेदनशील व्यक्ति ही जान सकता है।२४

---

१३ नंदराय को गोकुल गाऊ आप बरनि आप ही सुनाऊ। गो० गी० १।

१४ ब्रजमोहन ब्रज रस की बात, कहत सुनत रसिया न अघात। ब्र० स्व० १२१।

१५ एक बार जो कृस्न कहैगो, आनदघन-रस भीजि रहैगो ॥ वि० सा० २२।

१६ ब्रज को सुख-सरूप कछु कहौं, कहि कहि परमानदहि लहौं। ब्र० स्व० १।

१७ प्रगट प्रेम पद्धति कही, लही कृपा अनुसार।
आनदघन उनयौ सदा अद्भुत रस-आसार। प्रेम० प १०९।

१८ कृस्न कथा अघ ओघनि हरै ॥
मो से नीचहि उत्तम करै ॥ वि० सा० १३।

१९ (क) कृपा कान मधि नैन ज्यों, त्यों पुकार मधि मौन, सु० हि० ४५१।
(ख) विरही विचारिनि की मौन में पुकार है, सु० हि० ३९८।

२० मौन में व्याकुल प्राण पुकारे। कृ० क० ३७।

२१ वचन मौन में कृस्नहि बोले। वि० सा० ९।

२२ उर मौन में मौन को घूंघट कै दुरि बैठि विराजति बात बनी, सु० हि० १९२।

२३ घन आनद बुझनि अंक बसै विलसै रिझवार सुजान धनी। सु० हि० १९२।

२४ समझै कविता घनआनद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥ ( ब्रजनाथ प्रशस्ती २ )।

उपर्युक्त विश्लेषण से घनानन्द के अभिव्यंजना सम्बन्धी विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(क) कवि अभिव्यंजना को एक आन्तरिक प्रक्रिया मानता है, जो विविध उपकरणों में संघटित हो कर प्रकाश में आती है।

(ख) अभिव्यंजना में अनुभूति का अनिवार्य महत्व है, जिसके लिए प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक है।

(ग) अनुभूति स्वयं आनन्द स्वरूप है। अतः उसका प्रकाशन भी आनन्द स्वरूप ही है।

(घ) कवि में अनुभूति प्रकाशन की व्यग्रता बराबर विद्यमान रहती है।

(ङ सक्षम माध्यमों के अभाव में अनुभूति की सर्वांश समग्रता अभिव्यंजित नहीं हो सकती है। अतः कलाकार निरंतर ही माध्यमाभाव की पीड़ा भोगता है।

(च) अभिव्यक्ति सृजन प्रक्रिया की स्वतः जात एवं अयांत्रिक परिणति है।

(छ) अभिव्यंजना का सृजनात्मक पक्ष सुखद एवं रसात्मक है।

(ज) अभिव्यंजना द्वारा आत्म विरेचन होता है, जो कवि को उदात्तावस्था में ले जाता है।

(झ) ऐसी अवस्था में अभिव्यक्तियां माध्यम निरपेक्ष बन कर सर्वथा आनन्द स्वरूप बन जाती हैं।

इस सम्बन्ध में घनानन्द की तीन रचनाओं के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं :—

१—अनुभव चन्द्रिका, २—भावना प्रकाश, ३—रसनायश।

उपर्युक्त रचनायें अभिव्यंजना विवेचन का एक गम्भीर सन्दर्भ प्रस्तुत करती हैं। अनुभव चन्द्रिका में अनुभूत्यात्मक विकास पर विचार की महत्वपूर्ण संभावनायें विद्यमान हैं। भावना प्रकाश में अभिव्यक्ति अथवा पुनर्सृजन के गम्भीर संकेत उपस्थित हैं। इसी प्रकार रसनायश के प्रसंग में अभिव्यक्ति के माध्यमों की चर्चा हो सकती है। समग्रतः ये तीनों रचनायें अभिव्यक्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया से जोड़ी जा सकती हैं, जिसकी महत्वपूर्ण उपलब्धि, घनानन्द का काव्य ही नहीं प्रत्युत्त उनका समूचा व्यक्ति भी है।२५

---

२५. लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत॥ (सु० हि० २२८)।

## अभिव्यंजना बोधा

बोधा की विक्षिप्त मन स्थिति में अभिव्यंजना की कोई सुविचारित चर्चा सम्भव नहीं थी। उनके काव्य में शिल्प सम्बन्धी जो यत्किंचित सूत्र मिलते हैं, वे किसी गम्भीर चिंतन का परिणाम तो नहीं है, परन्तु इन द्वारा इस फक्कड़ कवि के विचारों को जानने में सहायता अवश्य ही मिलती है। विश्लेषण की सुविधा के लिए उन्हें भी अनुभूति और अभिव्यक्ति पक्षों के अन्तर्गत विवेचित किया गया है।

### अनुभूति पक्ष

बोधा की रचनाओं में अनुभूति सम्बन्धी कोई विशेष सूत्र नहीं मिलता है। एक उपलब्ध सूत्र[२६] से स्पष्ट है कि कवि काव्यानन्द के लिए प्रत्यक्ष और शुद्ध अनुभूति को ही उपयुक्त मानता है।

### अभिव्यक्ति पक्ष

बोधा अभिव्यक्ति को आत्मोल्लास के क्षण विशेष का प्रकाश मानते हैं, जो सभी बाह्य सापेक्षताओं से सर्वथा असंपृक्त रहता है। ऐसी अभिव्यक्तियाँ स्वांतःसुखाय होती हैं, क्योंकि वे नहीं तो सबोधित होती हैं और न ही प्रतिबद्ध। वे पूर्णतया आत्म केन्द्रित और आत्म सबोधित ही होती हैं।[२७] कवि के लिए अपने सर्वांश की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। अन्तःकरण उद्वेलित हो कंठ तक आता है। अनुभूतियाँ प्रसव प्रक्रिया की पूर्णता से पूर्व ही प्रसूत होना चाहती हैं, परन्तु हो नहीं पाती हैं। यह सृजन की अपूर्ण प्रक्रिया की पीड़ा है, जिससे बोधा परिपीड़ित रहते हैं।[२८] अनमिव्यक्त अन्तर्ज्वार एक मानसिक घुटन जगाता है, जो कवि को अविराम रूप से आन्दोलित किए रहता है।[२९]

---

२६. जिन चोखो चाखो नहीं तो किन पावे चोज। मा० का० क० पृ० २।

२७ बोधा चाहै सो बकै मतवारे की मौज, मा० का० क० पृ० २।

२८. उरते कढ़ि आवै गरै ते फिरै, मन की मन ही में सिरैबो करै।
सहते ही बने कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै॥ इ० ना० (३-१)।

२९ मन में गुनि आवै कहे न बनै निसि बासर ता उत्पात रहै॥
इ० ना० (२-३८)।

## माध्यम

बोधा पुनर्सृजन के लिए सुगठित शब्द योजना तथा उसकी सुसमन्वित अर्थवत्ता के पक्ष में है। इनके अभाव में कोई भी काव्य-प्रणयन प्रलाप मात्र ही होता३० है। बोधा अभिव्यक्ति के भाषात्मक संघटन का सबंध सामाजिक से मानते हैं, जिसका अत्यन्त भाव-प्रवण सम्वेदन-शील और कलावंत होना आवश्यक है, अन्यथा मन को उसके आगे अनावृत नहीं करना चाहिए।३१ सम्भवतः बोधा ऐसे सम्वेदनशील श्रोता के अभाव से पीड़ित ही रहे जो कोरी वाह वाह के स्थान पर अपनी आत्मीयता के तरल स्रोत से उन्हें परिशांत करता।३२ लगता है, इसीलिए बोधा अपात्र के आगे अभिव्यक्त होने से अनभिव्यक्त रहना श्रेयस्कर समझने लगे,३३ और घनानन्द की तरह मौन अभिव्यक्ति के प्रति निष्ठावान होते गए३४ तथा उत्तरोत्तर अभिव्यंजना के आंतरिक आलोक में ही केन्द्रित होते गए एवं उसके अभिव्यक्ति जन्य आनन्द के प्रति उनमें विरक्ति जगती गई।३५

## सम्प्रेषण

काव्य का सम्प्रेषण-पक्ष पाठक से संबंधित रहा है। जहां काव्य का सम्प्रेषणीय होना आवश्यक है, वहां पाठक का रस शील होना भी वांछित है।३६ कथ्य का पूर्ण सम्प्रेषण

---

३०. मतवारो विरही नर जैसो उनमादी बालक पुनि तैसो,
शिथिल शब्द ये सब ही भाषत, अर्थ अनर्थ अर्थ नहीं राखत ॥
(मा० का० कं० पृ० २।

३१. कवि बोधा इते पैं हितू न मिलै, मन को मन ही में पचे रहिए ॥
इ० ना० ( ३-२ )

३२. हम कौन सों पीर कहै अपनी, दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं ॥
इ० ना० ( २-१ )

३३. गहिए मुखमौन भई सोभई, अपनी करि काहू सो का कहिए। इ० ना० ( ३-२ )

३४. सिफ्त इस्क दिरयाव की मुख ते कहत बने न। मा० का० कं० पृ० ११९ ॥

३५. कवि बोधा कहै मे स्वाद कहा, को हमारी कही पुन मानतु है। इ० ना० (१-८)
हमें पूरी लगी कै अधूरी लगी, यह जीव हमारो ई जानतु है।

३६. (क) जिन जाने तिन मानि है माने नहीं अजान,
कसकत ताही के हिये जाहिय वेधो बान ॥ (१-१)
(ख) जाने कहां कोउ जापे बीत्यौ न बियोग,
बोधा बिरही की पीर कोई बिरही पहिचानि है। ( मा० का० कं० पृ० ५५।

तभी सम्भव होगा, अन्यथा साधारणीकरण की रस प्रक्रिया परिपक्व नहीं हो पाएगी, क्योंकि काव्य की निवेदनीयता का अमर्मज्ञों के लिए कोई महत्व नहीं है।३७

उपयोगिता —

बोधा काव्य प्रणयन में अ त प्रेरणा को ही मूर्धन्य मानते हैं,३८ परन्तु प्रणीत रचना द्वारा सांसारिक सिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं।३९ माधवानल काम कदला की रचना में उपर्युक्त दोनों दृष्टियाँ मिलती हैं।

निष्कर्ष

बोधा की समस्त मान्यताओं को निष्कर्ष रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —

१—काव्य के लिए प्रत्यक्षानुभूति आवश्यक है।

२—अभिव्यक्ति आत्मोल्लास के क्षण विशेष का माध्यम सापेक्ष रूप है।

३—अभिव्यक्ति प्रथमत स्वांत सुखाय होती है।

४—आत्म के सर्वांश की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव नहीं।

५—सृजन की अपूर्ण प्रक्रिया जन्य अभिव्यक्ति पीड़ाकारक होती है।

६—माध्यम रूप में अर्थ समन्वित शब्दों का सुसघटित रूप काव्य के लिए अतिवांछित है।

७—सामाजिक का रसज्ञ, द्रवणशील और आत्मीयतापूर्ण होना आवश्यक है।

८—अभिव्यक्ति का मौन अथवा अनभिव्यक्त रूप भी एक अवस्था में आनन्दमय हो सकता है।

९—सम्प्रेषण कवि और पाठक दोनों से समान रूप में सम्बद्ध है।

१०—काव्य प्रणयन का अन्त प्रेरित होना तो आवश्यक है, परन्तु उस द्वारा कोई भौतिक सिद्धि भी प्राप्त की जा सकती है।

मूल्यांकन

बोधा की अभिव्यञ्जना सम्बन्धी धारणाओं में अनुभूति सृजन सुख तथा माध्यम के विविध पक्षों की पर्याप्त चर्चा नहीं है। वस्तुत बोधा कोई विचारक और चिंतक नहीं थे, जो रीतिबद्ध आचार्यों की तरह काव्यांगों की स्थूल शास्त्रीयता का विवेचन करते। अत इन द्वारा

---

३७　(क) कवि को कवित्त कैसे शठ पहिचानि है।

(ख) बोधा ने बखान कीन्हीं तथा गुजरानी याते।
बानी पछितानी ऐसे डीलन में आय के॥　वही० पृ० ७०।

३८　बिछुरन परी महाजन कावा, तब विरही यह ग्रन्थ बनावा।　मा० का० क० पृ० २

३९　बनत यहै बनिता कही वे राजा तुम दीन।
भाषा कर माधो कथा सो लै मिलौ प्रवीन॥　मा० का० क० पृ० ३।

अभिव्यंजना का इतना विचार ही महत्वपूर्ण है, जिसका व्यावहारिक रूप उनकी अपनी रचनाओं में मिलता है।

## अभिव्यंजना—ठाकुर

ठाकुर, घनानन्द और बोधा की अपेक्षा संभले हुए कवि थे। वे न तो पछाड़ खा कर मौन हो जाते हैं और न ही उन्मादी बनते हैं। अतः उनके काव्य में अभिव्यंजना के अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर परीक्षण की अपेक्षा हो सकती थी, परन्तु ऐसा करना उनकी स्वच्छन्द प्रकृति के अनुकूल नहीं था। इसलिए उन्होंने इस दिशा में विशेष रुचि नहीं दिखाई है। इस धारा के अन्य कवियों की तुलना में उनके मुक्तकों में ऐसे सूत्र बहुत कम मिलते हैं, जिन्हें किसी विश्लेषण का आधार बनाया जा सके। उनके कतिपय सूत्रों का परिचय इस प्रकार है :—

### अनुभूति पक्ष

ठाकुर का विश्वास है कि कथ्य का अनुभूत होना परमावश्यक है। भले हो वह प्रणय की आंच में तपा हो किंवा अलौकिक प्रेम की दिव्य फुहार ने सींचा हो। इसके अतिरिक्त कथ्य का वैदग्ध्यपूर्ण होना भी उन्हें वांछित है। अनुभूति सम्वेदित कथ्य ही काव्य में अभिनंदित होना चाहिए।

### अभिव्यक्ति पक्ष

ठाकुर अभिव्यक्ति के लिए माध्यमों का आग्रह मुक्त, सर्वथा सरल, सुसंघटित ऋजु एवं अवक्र नियोजन ही उचित मानते हैं।[४०] शिल्प का बेडोल, असंतुलित और क्रमहीन रूप उन्हें प्रिय नहीं। ऐसी शिल्प योजना करने वाले कवि स्तुत्य नहीं।

### माध्यम

अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों का अनुभूति शून्य संघटन ठाकुर को प्रिय नहीं। विविध काव्य रूढ़ियों, काव्य सत्यों के परम्परागत रूप के संपादन का नाम ही काव्य नहीं है। ऐसे काव्य प्रणेता काव्य के दिव्य रूप को विकृत करते हैं।[४१]

---

४०. मोतिन कैसी मनोहर माला गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै। ठा० ठसक, छन्द सं० ९३।

४१. सीखलीन्हों मीन, मृग, खंजन कमल नैन, सीख लीन्हों यश औ प्रताप को कहानी है।
सीख लीन्हों कल्पवृक्ष, कामधेनु, चितामणि, सीख लीन्हो मेर और कुबेर गिरआनो है।
हैल से बनाय आय मेलत सभा के बीच, लोगन कवित्त कीबो, खेल करिजानो है॥
ठसक, छन्द सं० १२।

सम्प्रेषण

ठाकुर का विश्वास है कि व्यापक स्वीकृति के लिए काव्य का सम्प्रेषणीय होना आवश्यक है। सम्प्रेषण मुख्यत माध्यम सापेक्ष है। माध्यमों का समुचित सघटन ही कथ्य को व्यापक निवेदनीयता से सपन्न बनाता है। तभी काव्य कलाविदों द्वारा प्रशसित एव पुरस्कृत होता है। अत काव्य की व्यापकतर सम्पर्क प्रतिष्ठा और उसकी काव्य मर्मज्ञों द्वारा अभ्यर्थना कवि के लिए विशेष सतोष प्रद होती है। वहु अभिनदित रचना ही काव्य गुणों से सम्पन्न होती है।४२

निष्कर्ष

ठाकुर की उपर्युक्त मान्यताओं को निष्कर्ष रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है —

१—कथ्य का अनुभूत होना आवश्यक है।

२—अभिव्यक्त का रूप ऋजु, अनायास, निसर्ग और आग्रह मुक्त होना चाहिए।

३—माध्यमों का सयोजन सतुलित और अनुभूति स्पदित होना चाहिए।

४—सम्प्रेषण शिल्प-सापेक्ष है।

५—सहज-सम्प्रेषण द्वारा ही काव्योपलब्धियों की स्वीकृति और प्रशसा सम्भव है।

६—अभिव्यक्ति जन्य आनन्द कवि के लिए विशेष सुखप्रद होता है।

मूल्यांकन

ठाकुर के इन विचार सूत्रों में अभिव्यक्ति के प्राथमिक रूपों के गम्भीर संकेत अंतर्निहित हैं। उनके समस्त अभिव्यजना शिल्प का सघटन उन्हीं की अनुकूलता में हुआ है।

स्वच्छन्द काव्यधारा और अभिव्यजना शिल्प मूल्यांकन

घनानन्द बोधा और ठाकुर के अभिव्यजना सबधी विचारों के परीक्षण से कुछ ऐसी सामान्य धारणायें स्पष्ट होती हैं, जिनके बारे में उपर्युक्त तीनों कवि एक मत हैं —

१—कवि कथ्य का विशुद्ध आत्मानुभूत होना अत्यावश्यक है।

२—अभिव्यक्ति कवि कर्म की एक अनिवार्यता है, जो मुख्यत स्वांत सुखाय होती है।

३—माध्यमों का सहज एव अयत्नज सघटन ही स्तुत्य है।

४—माध्यम का सकट भी कवि कर्म की एक सनातन समस्या रही है।

५—सम्प्रेषण अभिव्यक्ति की प्राण चेतना है, जो मुख्यत शिल्प-सापेक्ष है और अन्ततोगत्वा कवि के लिए आनद प्रद भी है।

---

४२ ठाकुर सो कवि भावन मोहि जो राज सभा में बड़प्पन पावै।
पडित लोक प्रवीनन को जोई चित्त हरै सो कवित्त कहावै॥

ठाकुर ठसक छन्द सख्या १३।

उपर्युक्त तीनों कवियों में से घनानन्द का विवेचन अधिक व्यापक एवं गम्भीर है, उसमें अभिव्यंजना के आनन्ददायी एवं मुक्तिदायी तथा विरेचक पक्ष के संकेत भी विद्यमान हैं। उस उदात्तावस्था की भी विशद चर्चा है, जहां मौन ही कवि की अभिव्यंजना का माध्यम बन जाता है। बोधा में अनभिव्यक्ति की पीड़ा की चर्चा अधिक है। उचित सामाजिक वर्ग के अभाव से भी वे विक्षुब्ध हैं। ठाकुर में न तो मौन अभिव्यक्ति के आनंददायी रूप के संकेत हैं और न ही अनभिव्यक्ति की पीड़ा की चर्चा है। उनमें शिल्प-संघटन के प्रति सतर्कता तथा रूढ़ि-विद्रोह की भावना अधिक है।

समग्रतः इन कवियों के ऐसे सूत्रों में अभिव्यंजना के कई गम्भीर पक्ष विचारित हुए हैं। उसकी प्रक्रिया का पर्याप्त उनमें व्यंजित होता है। ऐसी गम्भीर चर्चाओं का रीतिबद्ध कवियों के रूढ़ शास्त्रीय निरूपण में सर्वथा अभाव है।

शिल्पी—आचार्य नंदलाल वसु

# 'व्रजावली भाषा' के दृश्य काव्य

बापचन्द्र महन्त

बंग, उड़ीसा, बिहार और नेपाल के धार्मिक साहित्य में जिस प्रकार 'व्रजबुलि' भाषा का व्यवहार होता था, उसी प्रकार असम के समकालीन धार्मिक साहित्य में भी 'व्रजावली' भाषा का व्यवहार होता था, किन्तु असम के भी अनेक आधुनिक लेखक बंगाल के लेखकों के अनुकरण में व्रजावली के स्वरूप का विश्लेषण किये बिना 'व्रजबुलि' शब्द का ही प्रयोग करते हैं। यहाँ व्रजावली के स्वरूप के सम्बन्ध में आलोचना नहीं की जायगी। असम में व्रजावली भाषा के प्रवर्तक श्री शंकरदेव जी ने छ दृश्यकाव्यों और कुछ शास्त्रीय गीतों में इस कृत्रिम भाषा का व्यवहार किया। यहाँ उन दृश्यकाव्यों के उद्देश्य, विषय और कौशल के सम्बन्ध में आलोचना की जा रही है।

व्रजावली भाषामें लिखित शंकरदेव जी के ये दृश्यकाव्य 'अंकीया नाट' नाम से परिचित हैं। अंकीया नाट शंकरदेव जी के अतिरिक्त माधवदेव जी, रामचरण ठाकुर, दैत्यारि ठाकुर और भूषणद्विज के भी हैं। भाषा, रचना कौशल और प्रयोजन प्रभृति सभी क्षेत्रों में उन्होंने शंकरदेव जी का ही अनुकरण किया। अत शंकरदेव के अंकीया नाटों के सम्बन्ध में ही यहाँ विशेषरूप से आलोचना की जा रही है।

दृश्य काव्यके व्यापक अर्थ में भी नाटक शब्द का प्रयोग बहुत समय से होता आ रहा है, किन्तु 'अंकीया नाट' शब्द का प्रयोग कैसे हुआ यह विचारणीय है। इस शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में असम के प्रमुख आलोचकों में भी मतभेद है। अत उन आलोचकों के सिद्धान्तों को आधार न मानकर अपनी ओर से विचार करना उचित समझा गया है। नाटक शब्द के स्थानपर 'नाट' शब्द का प्रयोग और उसमें 'अंकीया' विशेषण का कारण विश्लेषण करने पर 'अंकीया नाट' शब्द का स्वरूप स्पष्ट होगा। इस 'अंकीया' शब्द का प्रयोग शंकरदेव जी के समय में नहीं था। शंकरदेव जी के देहान्त के बाद भी ५०-६० वर्षों तक 'अंक' शब्द का प्रयोग नाट, नाटक, यात्रा आदि शब्द के स्थानपर हुआ था। अंक शब्द का ऐसा प्रयोग आजकल भी अनेक स्थानों में होता है। आधुनिक थियेटरों के नाटकों से पहले अंकीया नाटों के अनुकरण पर लिखे हुए नाटकों में अंकीया नाटों के सभी लक्षण सुरक्षित नहीं रहे। भाषा भी व्रजावली न रहकर पुरानी असमीया भाषा ही चलने लगी। भक्ति प्रतिपादक बातों की अपेक्षा कथा की चमत्कारिता पर अधिक जोर दिया गया। अत शंकरदेव, माधवदेव प्रभृति पूर्ववर्ती नाट्यकारों के नाटकों से भिन्नता दिखाने के लिए प्राचीन असमीया भाषामें लिखे दृश्य काव्यों को 'नाट' और शंकर, माधव प्रभृति के दृश्य काव्यों को 'अंकीया नाट' कहा जाने लगा। इस प्रकार, 'नाट' का

पर्यायवाची 'अंक' शब्द विशेषण बन कर 'अंकीया' हुआ। अंक, नाट, नाटक, यात्रा आदि शब्दों के दृश्य काव्य के व्यापक अर्थ में व्यवहृत होने का उदाहरण अंकीया नाटों से दिया गया है।

कालियदमन में सूत्रधार कहता है—'ओहि सभामध्ये कालिदमन नाम लीला यात्रा कौतुके करब।' माधवदेव के 'अर्जुनभंजन' के अन्त में भी सूत्रधार 'अर्जुनभंजन यात्रा' कहता है। कालिदमन और अर्जुनभंजन की भाँति छोटी कथावस्तु के नाटक 'पत्नीप्रसाद' में भी—'आहि पत्नीप्रसाद नाम नाट' कहा गया है। उसी प्रकार 'केलिगोपाल' में भी सूत्रधार 'केलिगोपाल नामेदं नाटकं मुक्तिसाधकम्' कहता है। कालिदमन, केलिगोपाल, पत्नीप्रसाद ये तीनों छोटी कथावस्तु वाले नाटक हैं। पारिजात हरण, रुक्मिणी हरण और रामविजय इन तीनों की कथा वस्तुएँ नाटक के लिए उपयुक्त या लम्बी हैं। रामचरण ठाकुर के कंस वध और दैत्यारि ठाकुर के नृसिंह यात्रा की भी कथा वस्तु लम्बी है। अनेक समय ऐसा भाव हो सकता है कि लम्बी कथावस्तु वाला नाटक और शेष सभी लीला, यात्रा, नाट आदि पृथक् नाम से परिचित है। वस्तुतः बात ऐसी भी नहीं। लंबी कथावस्तु वाले कंसवध में भी लिखा है—'कंसवध लीलायात्रां कृष्णस्य जगतीपतेः।' नृसिंह यात्रा में लिखा है—'श्रीनृसिंहलीला यात्रां श्रद्धया पश्यताधुना।' शंकरदेवजी ने 'रुक्मिणी हरण' और 'पारिजात हरण' में नाटक और नाट दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे :—'रुक्मिणीहरणं नाम नाटकं मुक्तिसाधकम्' (प्रथम-गीत के बाद) और अन्तिम भटिमा में 'नाट' कहा गया है। पारिजात हरण में भी है—

सोहि कृष्णक नाटक उपाम।
पारिजातहरण आहे नाम॥
करावत नाट ओहि बहु छन्दे।
कृष्णक भकति करिते प्रबन्धे॥

रामविजय नाट में है—'रामक विजय जो करावलि नाट।
मिलहु ताहेक बैकुण्ठक बाट॥

संस्कृत वाक्य में भी 'नाट' शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे—"रामविजय नाम नाटोऽयं सम्पूर्णम् श्रीकृष्णपाद प्रसादतः।" इस प्रकार के प्रयोगों से सिद्ध होता है कि नाटक और नाट शब्द का व्यवहार एक ही अर्थ में किया गया है। दस रूपकों में एक विशेष रूपक के अर्थ में नाटक शब्द का प्रयोग न कर सम्पूर्ण दृश्य काव्य के अर्थ में ही शंकरदेव तथा उनके परवर्ती लेखकों ने भी नाट और नाटक शब्द का प्रयोग किया है। अभिनय में नृत्य-गीत का परिमाण बहुत अधिक होने के कारण ही नर्तक या नटों की प्रधानता सूचित करने के लिए

'नाट' शब्दका प्रयोग हो सकता है। नाटक या अभिनय के परिचालक सूत्रधार का नाच तो प्रसिद्ध है, कृष्ण रुक्मिणी प्रभृति श्रद्धाभाजन पात्र पात्रियों का भी नृत्य है। युद्धादि आंगिक अभिनयों को भी लोग आजतक 'नाच' कहते हैं। नृत्यकी भाँति विशेष प्रकार के अंग सचालन के द्वारा ही युद्धादि का प्रदर्शन किया जाता है। इसलिए नाट, यात्रा प्रभृति शब्दों की भाँति 'लीला विहार' 'नृत्य' और झुमुरा' शब्द का व्यवहार भी कहीं कहीं मिलता है। झुमुरा शब्द का प्रयोग शकरदेव ने कहीं भी नहीं किया। बाद के कुछ लोगों ने ही भोजन विहार (ब्रह्ममोहन) पिपरा गुचुवा, चोरधरा, रास झुमुरा प्रभृति कुछ छोटे नाटकों के साथ झुमुरा शब्द जोड़ दिया। नृत्य-गीत को प्रधानता के कारण हिन्दी 'झुमुर' शब्द के स्थान पर 'झुमुरा' शब्द का प्रयोग होना असम्भव नहीं।

'अकीया' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में हुआ, उस विषय में भी आलोचकगण एक मत न हो सके। 'अक' शब्द का प्रयोग नाटक के अर्थ में शकरदेव के जीवन चरित लेखक तथा 'नृसिंहयात्रा' के नाट्यकार दैत्यारि ठाकुर ने किया है। उन्होंने शकरदेव के जीवन चरित में लिखा है—

देवानर वाणी शुनि सीता स्वयवर।
रामायण अक करि दिलन्त शकर॥ ३१।६

अर्थात् कोचराजा महाराज नरनारायण के भाई चिलाराय (देवान) की प्रार्थना के अनुसार शकरदेव जी ने रामायण की कथावस्तु लेकर सीता स्वयवर या रामविजय नाट (अक) की रचना की। यहाँ अंक शब्द नाटक के पर्यायवाची शब्द के रूप में व्यवहृत हुआ है, विशेषण की भाँति नहीं हुआ। 'अकीया नाट' शब्द का प्रयोग यदि 'अक नाटक' अर्थात् अकरूपक के पर्याय का नृत्य-गीत प्रधान नाटक या दृश्यकाव्य मान कर किया जाय, तो अनुचित न होगा। अब प्रश्न उठता है कि—'अक' का स्वरूप यहाँ कौनसा माना गया है। सस्कृत दृश्य काव्यों की दृष्टि से 'अक' शब्द के तीन प्रकार के अर्थ मान सकते हैं। (१) नाटक प्रभृति दृश्य काव्यों के खड या भाग को अक कहते हैं। (२) दृश्य काव्यों के दो प्रमुख भाग हैं—(क) रूपक (ख) उपरूपक। रूपक दस प्रकार के हैं—जिनमें नाटक, प्रकरण, भाण, वीथी, अक, व्यायोग समवकार, डिम, ईहामृग और प्रहसन हैं। इस अर्थ में अक एक प्रकारका स्वय सम्पूर्ण दृश्यकाव्य है। (३) भरत नाट्यशास्त्र में, अक शब्द का और एक प्रयोग मिलता है, जिसके अनुसार 'अक' एक रूढ़ि शब्द है। जो आवश्यक विधि विधानों से सुव्यवस्थित होकर काव्य के अर्थ को भाव और रस के स्तर पर आरूढ़ करता है, वही अक है। इसी अर्थ में अक शब्द का प्रयोग पहले से हो रहा है। उसमें लिखा है—

अंक इति रूढ़ि शब्दो भावैरसैश्च रोहयत्यर्थान् ।
नाना विधान युक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदंकः ॥ ना० शा० २०।१४

'अंकीया नाट' किसी नाटक का खंड नहीं। इसलिए अंक शब्द का पहला अर्थ इसमें सम्भव नहीं। अंक रूपक के भी सभी लक्ष्मण अंकीया नाटकों में नहीं। केवल एक अंक होना और कथावस्तु का इतिहास पुराण प्रसिद्ध होना ये दो लक्षण एक से हैं ; किन्तु स्त्रियों का रोना तथा करुण रस की प्रधानता प्रभृति अंक रूपक की अन्यान्य विशेषता 'अंकीया नाट'का अपरिहार्य लक्षण नहीं। अंक रूपक में वाक् युद्ध का निषेध न होने पर भी युद्ध का प्रदर्शन निषेध माना जाता है। अंकीया नाटों में युद्ध का निषेध नहीं किया गया। रुक्मिणी हरण, पारिजात हरण, रामविजय प्रभृति नाटों में युद्ध को विशेष स्थान मिला है। अंकीया नाटों के आदर्श पर लिखे परवर्ती नाट्यकारों के अधिक संख्यक नाट युद्ध प्रधान वध नाटकों में परिणत हुए। आजकल गाँव गाँव में प्रचलित नाटकों में युद्ध और वध को ही प्रमुख स्थान मिल गया है। संस्कृत में भी शर्मिष्ठा-ययाति, उन्मत्त राघव आदि अति अल्प संख्यक अंक मिलते हैं। अतः ऐसा लगता है कि शंकरदेव जी ने संस्कृत के अंक रूपक के आदर्श पर अंकीया नाटों की रचना नहीं की। सम्भवतः रूढ़ि अर्थ में ही शंकरदेव के दृश्य काव्य को दैत्यारि ठाकुर ने अंक बताया है। सत्रों में ( धर्म प्रचार के केन्द्रों में ) आजकल भी 'महापुरुष का ( शंकरदेव का ) अंक' या 'महापुरुष का नाट' शब्द अंकीया नाट के स्थान पर व्यवहृत किया जाता है।

'अंकीया नाट' शब्द का और एक अर्थ होना सम्भव है। असमीया में विशेषण स्थानीय 'एक' संख्या बहुत क्षेत्रों में लुप्त हो जाती है और विशेष्य में ( संज्ञा में ) 'ईया' प्रत्यय लगता है। जैसे-एक हाथ लंबा समझाने के लिए 'हतीया' ( हात=हाथ ) शब्द का प्रयोग होता है। उसी प्रकार एक अंक में सम्पूर्ण को समझाने के लिए 'अंकीया' और दृश्य काव्य अर्थ में 'नाट' शब्द का व्यवहार होने पर 'अंकीया नाट' शब्द की सृष्टि हुई।

संस्कृत साहित्य में निर्दिष्ट दृश्य काव्य के सभी विधानों का पालन शंकरदेव जी ने नहीं किया। इसलिए संस्कृत दृश्य काव्य के किसी एक भागसे अंकीया नाट को समता दिखाई नहीं देती। अंकीया नाट एकही अंक में स्वयं सम्पूर्ण एक पृथक् वस्तु है। वस्तुतः यह प्रादेशिक भाषा में लिखित प्रचारधर्मी साहित्य है। उसको नाट्यकला मिश्रित प्रचार कला मानना अधिक अच्छा होगा। संस्कृत नाट्य कला का ऐतिहासिक प्रभाव होनेपर भी उद्देश्य, रचना कौशल तथा मंचविधान की दृष्टि से संस्कृत नाटक की अपेक्षा अंकीया नाट अविकसित अभिनय कला का परिचायक है ; किन्तु अविकसित होते हुए भी उसका अभिनय स्वतन्त्र आदर्शपूर्ण और अत्यन्त जनप्रिय हुआ।

ई० १५वीं शती के अन्तिम भाग में अंकीया नाटों की रचना का प्रारम्भ हुआ और १७ वीं शती के पूर्वार्ध तक ब्रजावली भाषा में रचनाक्रम चलता रहा। बाद की रचनाओं में अंकीया नाट का आदर्श सम्पूर्ण सुरक्षित नहीं रहा। अंकीया नाट प्रचारधर्मी या उपदेश प्रधान होने के कारण उद्देश्य कला की सीमा का अतिक्रम करता है। उसे नाट्यकला की अपेक्षा उपदेशकला मानना अधिक उपयुक्त होगा। नाट्यकला में दर्शक के रसबोध के लिए जितने स्वाभाविक वातावरण और स्वाधीनता की आवश्यकता है, अंकीया नाटों के अभिनय में उतने स्वाभाविक परिवेश तथा मानसिक स्वाधीनता का अभाव है। सूत्रधार की उक्ति के माध्यम से दर्शकों को उपदेश देना ही अंकीया नाटों के अभिनय का प्रधान लक्ष्य है। अभिनय सूत्रधार की उक्तियों का उदाहरण स्वरूप या उपदेश का साधन बन जाता है। नृत्य, गीत और वाद्य अर्थात् संगीतधर्म के प्राधान्य के कारण अभिनय का महत्त्व कुछ घट जाता, किन्तु उसमें संगीत और साहित्य का एक मिश्रित रूप झलकता है।

साहित्यदर्पण प्रभृति संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में नाटकों में जिन कार्यों के दिखाने का निषेध किया गया है, अंकीया नाटों में उनका भी प्रदर्शन होता है। जैसे— युद्ध, विवाह, भोजन आदि। रामविजय और रुक्मिणीहरण में युद्ध और विवाहको ही प्राधान्य मिला। पारिजात हरण में नरकासुर वध और इन्द्र के साथ कृष्ण का युद्ध मुख्य है। भोजन विहार या ब्रह्ममोहन में भोजन का चित्रण हुआ है। शंकरदेव के परवर्ती माधवदेव प्रभृति ने भी ऐसा किया।

नान्दी, सूत्रधार और भरतवाक्य का प्रयोग सामान्य परिवर्तित रूप में अंकीया नाटों में भी है। यहाँ सूत्रधार नान्दी श्लोक से नाटक की समाप्ति तक रहकर भरतवाक्य या मुक्तिमंगल भटिमा भी गाता है। पात्रों के प्रवेश के पहले ही सूत्रधार नान्दी श्लोक के बाद भटिमा और सुहाई राग के गीत के द्वारा नाटकीय कथावस्तु का उल्लेख करता है। उसके बाद श्रीकृष्ण अथवा श्री रामचन्द्र के प्रवेश की सूचना देकर प्रवेश का गीत गाता है। राम या कृष्ण का प्रवेश अन्यान्य पात्रों के पहले होता है। अत संस्कृत नाटकों की अपेक्षा अंकीया नाटों के सूत्रधार का महत्त्व बहुत अधिक है। यहाँ उदाहरण सहित अंकीया नाट के कौशल सम्बन्धी कुछ विशेषत्व का उल्लेख किया गया है।

अंकीया नाटों में चार विशेष स्तर हैं—श्लोक, सूत्र, गीत और वचन या कथोपकथन और अभिनय।

श्लोक तीन प्रकारके हैं (क) वन्दना या नान्दी (ख) प्रासंगिक (नाटक के बीच में कथाप्रसंग में व्यवहार होता है), (ग) समाप्तिसूचक (केलिगोपाल, पत्नीप्रसाद प्रभृति छोटे

नाटों में ऐसे श्लोक नहीं हैं) श्लोक, सूत्र, गीत और अभिनय के समन्वयात्मक रूप को समझने को सुविधा के लिए नीचे 'कालियदमन नाट' से एकांश उद्धृत किया गया है।

नान्दी :—मेघश्यामलमूर्तिमायतमहाबाहुमहोरस्थूलम्।
स्वारक्तायतकंजलोचनयुगं पीताम्बरं सुन्दरम्॥
मुक्ताहारक हेमहार वलयालंकार कान्तिद्युतिम्।
कृष्णं शारदचन्द्र चान्द्रसदृशं हृत्पंकजेऽहम्मजे॥
अपि च
येनाकारि महाहिदर्पदलना क्रीड़ा हृदिन्या जले।
येनाभाजि भुजंगभोग निखिलं पदभ्यां मुदा मर्दयन्॥
येनामारि महामहाशूरचमुचक्रं परं लीलया।
तस्मै श्रीकरुणामयाय महते कृष्णाय नित्यं नमः॥

सूत्र :—ओहि परकारे श्रीकृष्णक परणाम कयकहु सभासद लोकक सम्बोधि बोल।

श्लोक :—भो भो समाजिकाः यूयं श्रृणुत मधुरं वचः।
कृष्णस्य कालिदमनयात्रावार्तां निबोधत॥

सूत्र :—आहे सभासद लोक! ये परमपुरुष पुरुषोत्तम सनातन नारायण श्री श्रीकृष्ण ओहि सभामध्ये कालिदमन लीलायात्रा परम कौतुके करब, ताहे सावधाने देखह शुनह, निरन्तरे हरिबोल हरि॥

भटिमा

जय जय यदुकुल कमल प्रकाशक नाशक कंसक प्राण।
जय जय जगतक भकतक भीति नीतिकर निरजान॥१॥
जय जय नायक मुकुतिदायक सायकशारंगधारी।
दुष्ट अरिष्टक मुष्टिकमोड़ल छोड़ल बन्ध मुरारि॥२॥
धरु गोवर्धन वारणवरिषण भेलि इन्द्रमद दूर।
त्रिभुवन कंपक कालिय सर्पक दर्पक कयलि चुर॥३॥
यतये परमा धरमा सबकहु राजा नाम
कृष्णक किंकर किकरशंकर डाकि बोलहु राम राम॥१२॥

सूत्र :—आहे सभासद लोक— — इत्यादि [ऊपरका जैसा] (आकाशक कर्णदिया सूत्र बोल) आहे संगी! कोन वाद्य शुनिये?

संगी :—सखि! मृदंग-वंशी ध्वनि शुनि। आः मिलल, मिलल।

श्लोक —गोवत्सान् पुरत कृत्वा गोपाल पालक ।
सर्मा प्रविवेश गोपै सद्वेणुं निनादयन् ॥

सूत्र —आहे सामाजिक लोक। हामु ये कइल सोहि ईश्वर श्रीगोपाल वत्स, वत्सपाल सहिते एथा प्रवेशि कहु जैसे लीला कौतुके करयं ताहे देखह शुनह निरन्तरे हरिबोल हरि ॥

गीत —[ राग-सिन्धुरा, एकतालि ]

ध्रं —आवत ए कानु सुरभि चराइ ।
रजित धेनु रेणु वेणु वजाइ ॥

पद —शिरे शिखंडक गड कुंडल डोलावे ।
उरे हेमहार हीर मजिर जुरावे ॥
बालक वेढ़ि खेलि खेलाइते याय ।
कहतु शकर गति गोविन्द पाय ॥

सूत्र —ऐसन लीला कौतुक नृत्य करिते गोपाल सहिते शिशुसब कालिह्रदक समीप पावल। से विषमय पानी नाजानि परम पियासे पीड़ित हुया सबहि ह्रदजल उदर भरि पान करल। तत्काले दुर्घोर विषजाला लागिये चेतन हरल। शरीर कम्पि कम्पि प्राण छाड़ि वत्स-वत्सपाल सब कालिन्दी तीरे परल ॥

श्लोक —वत्सकान् पालकान् कृष्णो विलोक्य मृतकान् तदा ।
चकार प्रचुर खेद अद्भुत भक्तवत्सल ॥

सूत्र —तदन्तर वत्स वत्सपाल सबक विषजलपाने मृतक पेखि श्रीकृष्ण हाहा कि भेलि बुलि धरिक्हु उलट-पालट करि देखल निरन्तरे प्राणे मरल। हाहा मोर भक्तक ऐसन अवस्था बुलि से भक्तवत्सल गोपाल बहुत खेदकये कहु अमृत दृष्टि निरेक्षि तत्काले जीयावल ॥

कथोकथन का एक उदाहरण 'रामविजय' नाट से दिया जाता है।

सूत्र —ऋषिराज कौशिक शिष्य सहिते आसि कहो राजा दशरथक आशीर्वाद करिये बोलल, ता देखह शुनह, निरन्तरे हरिबोल हरि ॥

गीत—[ राग कानाड़ा, परिताल ]

ध्रु —आवे कौतुके कौशिक चंड । माला माथे हाते धरु दण्ड ॥

पद —लाडय बाहु हरिगुण गाय । सचकित नयने चौदिशे चाय ॥
शोभे सुललित तिलक कपाल । हेरत कोपे जैसे यमकाल ॥

सूत्र —ऐसन प्रवेश दिये से ऋषिराज आशीर्वाद कयल ।

श्लोक :—चिरंजीव चिरंजीव चिरंजीव जनाधिप ।
पुत्रपत्नीसमायुक्तः भक्तिमान् भव माधवे ॥

कौशिक :—हे राजा दशरथ, तोहो सपरिवारे चिरंजीव भव ।

दशरथ :—( ऋषिक आसने बैठाया परि प्रणाम कय करयोरे बोलल ) हे मुनिराज ! तोहारि पद-परशे हामार अयोध्यापुर पवित्रभेल । तुवादरशने हामार जनम सफल भेल। मुनि अब कोन प्रयोजन साधों, हामाक आज्ञा करह, सभामध्ये अंगीकार कये बोललो । आजु ये दान मांगह ताहाक सत्ये सत्ये देवबो ।

कौशिक :—[ राजाक वाणी शुनि हाँसि कौतुके ] आः मनोरथ सफल भेल । हे नृपते ! तोहो पृथिवीक कल्पतरु, तोहार ठाइ प्रार्थक कबहु विमुख नाहि हय, इहाक जानो ; किन्तु हामार प्रार्थना सुनह । हामु सिद्धाश्रमत यज्ञ आरम्भल । ताहेक मारीच-सुबाहु दोहो राक्षस बहुत विधिनि आचरय । से यज्ञ-रक्षानिमित्ते तोहार राम-लक्ष्मण दोहो कुमारक हामार संगे पठाव । तबे हामार मनोरथ सिद्ध हय ।

श्लोक :—तन्निशम्याभवद्भीतः पपात मूर्च्छितो भुवि ।
करोति कातरं राजा विधृत्य चरणौ मुनेः ॥

सूत्र :—राजा कौशिकक ऐसन वचन सुनिये दुरन्त चिन्ताये पीड़ल, मूर्च्छित हुया पड़ल । तदन्तरे स्वस्थ हुया कौशिकक चरणेधरि कहु कातर कय बोलल ।

दशरथ :—आहे मुनिराज ! हामार पुत्र राम-लक्ष्मण, से बालक ! ताहेक राक्षसक दिते चाव ! ओहि कोन व्यवहार ! हाहा ! हे ऋषिराज यज्ञ रक्षा करिते हामाक निये याव ।

कौशिक :—( राजाक वचन शुनिये कौशिक परम कोपे भरसय ) अये पापी असत्यवादी। राम-लक्ष्मणक नाहि पठावब । ( कोपे कम्पमान हुया बेगे चलन )

दशरथ :—( आगु हुया ऋषिक चरण धरि कहु जैसे विलाप कयल, ता देखह सुनह, निरन्तरे हरिबोल हरि । गीत :—राग सुहाइ, ज्योतिमान ]

करहु करुणा ऋषि सुतदान देहु ।
कोन मुहे कह रामक तोहो लेहु ॥
नेहबि राम राक्षस लागि मागि ।
आहे अधिक हृदय दहे आगि ॥
बालक राम किछुए नाहि जाने ।
ताहे नाहेरि रहबि नाहि प्राणे ॥

दशरथ बोल —बालक रामक कैसे राक्षसक हाते दिते चाब। इहा उचित नोहे। बाप! रामक छाड़ि हामाक निया याव।

नाटोंकी समाप्ति किस प्रकार होती है, इसका उदाहरण कालियदमन से दिया जाता है।

सूत्र —तदन्तरे कालिदमन, वनवह्निपान परम ईश्वर लीला दरशिये श्रीकृष्ण गोप-गोपी सहित धेनुसब आगकय चलय। कृष्ण गुण गाइ बशी, शख, शिंगा बजाइ गोपसब याय। गोपीसबो परमप्रेम भावे हरिगुण गाइ कृष्णमुखपकज कटाक्षे निरेखि गोकुल चललि। ताहे देखह शुनह निरन्तरे हरिबोल हरि।

गीत —( राग-कल्याण, खरमान )

ध्रु —गोकुले चलल मुरारु।

नीलशरीर रजित पीतज्योतिचीर हियेहेमहारु।

पद —बावत वेणु धेनुरेणुतनु कानु कौतुकये याय।

गोपशिशुसगे अगत्रिभगिम रूपे भुवन भुलाय॥

सगिनी रगिनी गोपिनी गावे भावे नयन जुरावे।

कानुक कमल अमल मुह हेरि चलति लहुलहु पावे॥

श्रीरामराया हरिरसपाया मायाकरु निरजान।

एकु कृष्णक चरणपरायण शकर हरिगुण गान॥

सूत्र —ऐसन परम कौतुक केलिकय श्रीकृष्ण गोप-गोपी सहित गोकुल पाइ परम आनन्दे रहल। ओहि गोपालक कालिदमन वनाग्निपान लीला यात्रा ये सब लोके शुने भणे, ताहेक कृष्णचरणे परमप्रेम भकति बाढ़ब। इहा जानि निरन्तरे हरिबोल हरि।

श्लोक —कृष्णस्य कालिदमनयात्रा च कारिता।

यत्न्यूनाधिक दोष क्षमतां भगवन् प्रभो॥

नम कृष्णाय रामाय कामाय महते नम।

नमो अरविन्दनेत्राय सदानन्दाय शाश्वते॥

भटिमा—मुक्ति मगल।

दैवकी उदरे उदय योहि देवा

कयलि भकतक त्राण।

अघबक धेनुक केशी सवशाक

कसक ध्वसल प्राण॥१॥

विरिन्दा विपिनविहार विशारद
शारद चन्द्र समान।
सोहि जगत गुरु तेरी सतते करु
मुकुति मंगल विधान ॥२॥

पाषण्ड दंडन मंडन भकतक
हरिरस रसिक सुजान।
कालिदमन करावत नाटक
कृष्ण किंकर ओहि भाण ॥१०॥

देवक उपरि राजा माधव
धरमक उपरिनाम
कोटि कल्पक पातक नाशक
डाकि बोलहु राम राम ॥१२॥

ऊपरके उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि—जो संस्कृत जानता है, वह केवल श्लोकों के द्वारा विषयवस्तु को जान सकेगा। जो गीत का प्रेमी है, वह गीतों से नाटकीय विषय वस्तु का स्वाद लेगा। जो गीतों और श्लोकों से विषय वस्तु को समझने में समर्थ न होगा, उसके लिए सूत्रधार की उक्तियाँ और पात्रों का अभिनय सहायक होगा। सम्भवतः व्यक्ति-भेद के साथ रुचिभेद को ओर ध्यान रखकर ही अंकीया नाटों में ऐसे भिन्न भिन्न स्तर रखे गये हैं। नाटों से उपदेश ग्रहण करना दर्शकों के लिए अपरिहार्य था। इसलिए सूत्रधार बीच-बीच में प्रसंग की व्याख्या कर दर्शकों को उपदेश देता है। 'अंकीया नाट'का अभिनय संस्कृत नाटकोंके समान मंचपर नहीं होता। खुली जगहपर दर्शकोंके बीच (रामलीलाकी भाँति) अभिनय होता है और सूत्रधारभी दर्शकोंके बीच रहकर अभिनेताओं को अपना निर्देश तथा दर्शकोंको उपदेश सुनाता है। गीत भी वादकोंके साथ सूत्रधारको गाना पड़ता है। इस प्रकार श्लोक, गीत, भटिमा और पात्रोंके लिए अभिनयके निर्देशोंको गूँथकर एकही कथा वस्तुकी माला बनानेवाला सूत्रधार संस्कृत नाटकोंके सूत्रधारसे बहुत भिन्न है।

**पात्रोंका अभिनय** :—आंगिक, वाचिक और आहार्य अभिनयके लिए 'अंकीया नाट'में जितनी सुविधाएँ हैं, सात्त्विक अभिनयके लिए उतनी सुविधा नहीं। बहुत समय सूत्रधारकी मौखिक वर्णना और पात्रोंके प्रति दिये निर्देशसे अभिनय की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है।

नृत्य गीतकी प्रचुरता तथा अभिनयस्थानके अनुपयोगी दृश्य या घटनाके निर्देशके कारण भी नाटकीय मर्यादाकी हानि होती है। इस प्रकारके निर्देश दृश्यकाव्यको श्रव्यकाव्यकी ओर खींचकर ले जाते हैं। जैसे —दारुकके द्वारा लाये हुए रथमें चढ़कर श्रीकृष्णकी कुण्डिल यात्रा, कालिय ह्रदमें उतरकर श्रीकृष्णका जलक्रीड़ा करना, गरुड़पक्षीके कन्धेपर चढ़ सत्यभामा सहित श्रीकृष्णका अमरावती पहुँचना इत्यादि। एक स्थानपर है—"हाजारेक फणानुलि कृष्णक चाइ फोफाइ, कोपे चक्षु आरक्त करि जिह्वाये फोवारि चेलेकय, नाके मुखे विषवहि परपय।" इस वर्णनके अनुसार कालिय सम्पूर्ण सर्पाकृतिका होना चाहिए, किन्तु कालियके द्वारा श्रीकृष्णकी जो स्तुति की गई है, उसके वर्णनमें है—"शिरे चरण परशिये प्रणाम कयल। पश्चात् जानुपारि करयोरि स्तुति आरम्भल।" अब प्रश्न उठता है कि कालियको नररूपमें दिखाना है या सर्परूपमें। भागवत पुराणके अनुकरणके कारण यह समस्या जैसीकी तैसी रह गई। (तुलनीय भागवत पुराण १०।१६।२४, ५५)

सस्कृत नाट्यकलाके सम्बन्धमें शकरदेव अनभिज्ञ थे, ऐसी बात नहीं। वे बारह वर्ष लगातार भारतका भ्रमण करते रहे। 'भक्तिरत्नाकर'नामक पुस्तकमें प्रतीकनाटक प्रबोधचन्द्रोदय की उद्धृति भी उन्होंने दी। सम्भव है कि समकालीन वातावरण और रुचि तथा योग्यताकी ओर ध्यान रखकर ही इस प्रकारके नवीन दृश्यकाव्योंकी सृष्टि की गई। समाज सगठनके ऊपर शकरदेवकी दृष्टि थी। सगठनके लिए आदर्शकी आवश्यकता है, किन्तु आदर्शके प्रचारके लिए माध्यम चाहिए। उस समय मुद्रणयन्त्र नहीं था, उन्नत साहित्यका प्रभाव बहुत कम सख्यक लोगोंपर पड़ता है और वह भी बहुत धीरे धीरे पड़ता है। साक्षर लोगोंकी सख्या उससमय बहुत कम थी। अत 'भाओना' (अकीया नाट का अभिनय या भाव प्रकट करना) आदर्श प्रचारके लिए उत्तम साधन बना।

भाषा —भाओनामें ब्रजावली भाषाके व्यवहारका कारण भी सामाजिक आदर्शपर आधारित था। समकालीन जनसमुदायकी ओर ध्यान देनेपर यह कारण स्पष्ट होता है। उस समय भारतके बाहरसे आये हुए 'टाइ' या आहोम लोगोंका शासन पूर्वी असममें जमा हुआ था, किन्तु शकरदेवको अपना कार्यक्षेत्र आहोम राज्य छोड़कर पश्चिमके कोचराज्यमें ही चुनना पड़ा। कोचराज्यकी पश्चिमी सीमा वर्तमान बिहार राज्यकी पूर्वी सीमासे सटी हुई थी। ब्रह्मपुत्रकी उपत्यका सहित इस विस्तृत भूभागमें बहुतसी जनजातियोंके लोग बसते थे। उत्तरप्रदेश, बिहार और बगालसे आये हुए लोग उनके बीच बीचमें बसने लगे थे। जनजातियोंकी अपेक्षा इन लोगोंमें नवीन आदर्शकी एकता कुछ अधिक थी, विशाल भारतीयता इनके सामने थी, किन्तु कामरूप या असमके नामपर तब एकता जनजातियोंमे नहीं थी।

अतः समकालीन असमकी जनजातियोंने भारतीय या हिन्दू बन कर ही पारस्परिक एकताके आदर्शको भी ग्रहण किया। इसलिए गंगाघाटीसे आये हुए लोगोंको असमके सामाजिक या सांस्कृतिक जीवनमें नेतृत्व मिला। ऐसे नेताओंमें शंकरदेवका स्थान सर्वोपरि है। शंकरदेव प्रभृति कायस्थ और ब्राह्मणोंके पूर्वज कन्नौजके लोग माने जाते हैं। इस प्रकार असमकी साहित्यिक भाषामें स्थानीय शब्दोंके साथ साथ क्रमशः शौरसेनी प्राकृतका प्रभाव बढ़ने लगा। अर्थ-मागधी और मागधी अपभ्रंशका प्रभाव भी असमकी भाषामें है; किन्तु अर्धमागधी और मागधीके मूलमें भी शौरसेनी का ही प्रभाव छिपा है। ऐसी स्थिति में भारतीय आदर्श और असमके लोगोंके लिए भी भारतीय ऐक्यकी ओर ध्यानरखकर असमसे ब्रजभूमितक विस्तृत जन-समुदायमें प्रचलित शब्दोंके समन्वयमें ब्रजावली भाषाका प्रयोग नाटों और गीतोंमें किया। भटिमाओंमें गीतों और नाटकीय निर्देशोंकी अपेक्षा भी मिश्रित शब्दप्रयोग अधिक है। इसका भिन्न कारण यह भी हो सकता है कि भटिमाओंमें जो शाब्दिक चमत्कार है; वह चमत्कार शुद्ध कामरूपी अथवा किसी अन्य एक भाषासे सम्भव नहीं। अनुप्रास के द्वारा शाब्दिक चमत्कार उत्पन्न करना भटिमाओं की विशेषता है। जैसे :—"दुष्ट अरिष्टक मुष्टिक मोड़ल छोड़ल बन्ध मुरारि। ब्रह्मा महेश्वर जाकर चाकर ताकर गुण मनलागि" इत्यादि। साधारण विचार बुद्धिके स्तरके लोग शाब्दिक चमत्कारकी ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। लोक-संग्रहकी दृष्टिसे शंकरदेवका वातावरण उन्नतस्तरकी नाट्यकलाके अनुकूल नहीं था। ऐसी स्थितिमें उपयुक्त साधनके रूपमें अंकीया नाटोंका अभिनय या भाओनाकी व्यवस्था की गई। भाओनाके द्वारा भक्तिधर्मके प्रचारके साथ साथ कलाके माध्यमसे लोकरुचिको उन्नत बनानेका प्रयास किया गया है।

भाओनामें चार प्रकारकी सुकुमार कलाओंका समावेश हुआ है—'गरुड़का पक्षीरूप, कालियका सर्परूप, ब्रह्माके चारमुख आदि दिखानेके लिए 'मुखा' (मुखौटा) बनाना पड़ता है। उसमें मूर्ति कलाका प्रभाव आया। अभिनेताओंके कपड़े, गदा, चक्र आदि अस्त्र-शस्त्रोंमें चित्रकलाका काम होता है। सुसज्जित मंच न होने पर भी पात्रोंके प्रवेशके पहले परदेका प्रयोग होता है। सम्भव है कि उसमें भी चित्रोंकी व्यवस्था थी। प्रचलित कथाके अनुसार अंकीया नाटोंके पहले शंकरदेव 'चिह्नयात्रा' नामक अभिनय दिखाते थे; जिसमें नाटकीय विषयवस्तुका प्रदर्शन कपड़ोंमें अंकित चित्रोंके द्वारा किया जाता था। किन्तु किसी चरित ग्रन्थमें उसकी विषयवस्तु का उल्लेख नहीं मिला। इस प्रकार आहार्य अभिनयके द्वारा मूर्ति और चित्रकलाकी ओर लोगोंकी रुचि बढ़ी। आंगिक अभिनयमें नृत्यभी आया। गीत

और वाद्यका तो महत्त्वपूर्ण स्थान भाओनामें आजभी है। वाद्योंमें 'खोल' ( मृदग विशेष ) और 'ताल' ( बड़ा मजीरा ) प्रमुख हैं।

अभिनयके पहलेके पूर्वरगविधानके सम्बन्धमें भी एक बात ध्यान देने योग्य है। पूर्वरगको यहाँ गायन-बायन कहते हैं। यहाँ भी खोल और तालही प्रधान वाद्य हैं। नघेमालि, वरघेमालि और घोषा घेमालि गायनके प्रमुख भाग हैं। इनमें गीत और नृत्यकी भगिमा बहुत कम है, अन्य प्रकारकी अगचालना का ही परिमाण अधिक है। तो भी इसका मूल भाग वादन ही है। अब इस 'घेमालि' शब्दके प्रयोगके सम्बन्धमें ध्यान देना है।

शकरदेवके साहित्यमें घेमालि शब्दका प्रयोग नहीं मिलता। आजकल बोलचालकी भाषा और साहित्यमें खेलके अर्थमें घेमालि शब्दका प्रयोग होता है। नघेमालि, वर घेमालि आदि से अर्थविस्तार होकर घेमालि शब्दका ऐसा प्रयोग होना असम्भव नहीं। घोषा शब्दका भी इसी प्रकार अर्थ विस्तार हुआ। शकरदेवके उत्तराधिकारी माधवदेवकी नामघोषाकी जनप्रियताने और बहुत घोषाओंकी सृष्टि की है। इसके अनुकरण पर लिखित पुस्तकोंमें पुरुषोत्तम ठाकुरकी 'न घोषा' गोपाल मिश्र कविरत्नकी 'घोषारत्न' प्रभृति प्रमुख हैं। जगलमें ही गानेयोग्य यौन विषयवस्तुके पद भी 'वनघोषा' नामसे परिचित हुए। नाटों और गीतोंमें शौरसेनी प्रभावका उल्लेख किया गया है। सम्भव है कि शकरदेवजीने ही उत्तर भारतके 'धमाल' से बने घेमालि शब्दका अर्थविस्तार और अर्थ विपर्ययके आधार पर पूर्वरंगमें प्रयोग किया। वह प्रयोग पहले मौखिक था। बहुत बादको लिखित साहित्यमें भी उसका व्यवहार होने लगा।

हिन्दीमें 'धमार' शब्दका अर्थ फागुनमें या होलीमें गाया जानेवाला एक प्रकारका गीत है, तथा सगीतमें एक ताल, उपद्रव, उछल-कूद और कलाबाजी भी होता है। बल्लभाचार्यजीके सम्प्रदायभुक्त अष्टछापके कवियोंने भी होलीविषयक बातोंमें धमार, धमारि तथा धमालि शब्दका प्रयोग अनेक स्थानोंमें किया है। उत्तरभारतकी होलीके नृत्य गीतके साथ लौकिक प्रेमगीतका भी सम्बन्ध है, जिससे धमार का तात्पर्य समझमें आ सकता है। इस धमार से राधा चरित्र का भी सम्पर्क है। अत राधा चरित्रके द्वारा धमारका प्रभाव बगाल और पश्चिमी कामरूपमें भी पड़ा है। शकरदेवने कामरूपीय साहित्य और अपने दृश्यकाव्योंमें जिस प्रकार राधाचरित्रको बहुत बदल दिया तथा निष्प्रभ कर दिया, उसी प्रकार 'धमार' को भी पूर्वरगमें बदल दिया।

राधा चरित्रके धमार अंशको भागवतधर्मने गोपियोंकी भक्तिमें विलीन कर शोधित रूपमें ग्रहण किया है। इसलिए भागवतपुराणकी भाँति पृथक् राधाचरित्रकी मर्यादा शकरदेवने भी

नहीं रक्खी। होलीको भी धमार रूपमें ग्रहण नहीं किया। महारासके समय कृष्णके साथ कुछ क्षणके लिए अकेली विहार करनेवाली गोपीको एक बार या दो बार राधा नामसे परिचित किया है और भागवत दशम स्कन्ध में अनेक गोपियों के नामके बीच राधिका नामका भी एक बार उल्लेख किया है। केलिगोपाल नाट और दशमके अनुवादके अतिरिक्त अन्य कहीं भी राधा का नाम तक नहीं। अतः शंकर देवके दृश्यकाव्य राधाचरित्रके प्रभावसे आशातीत रूपमें मुक्त हैं। शंकरदेव के बाद माधवदेव के 'भूषण हेरोव्य' और 'रासझुमुरा'में राधाको सामान्य विकसित रूप मिला है ; किन्तु अनेक आलोचक अंकीया नाटोंके सभी लक्षणोंसे युक्त न होने के कारण अत्यन्त छोटे इन दोनों नाटोंके लेखक माधवदेव जी को नहीं मानते। मधुर भावकी अपेक्षा दास्य भावको ही शंकरदेव ने अपने भक्तिधर्म में प्रधान स्थान दिया। भाओनामें भी वही आदर्श स्पष्ट रहा। अभिनय के परिणाम स्वरूप किसी प्रकार नैतिक जीवन पर बुरा प्रभाव न पड़े, उसकी ओर भी ध्यान रखा गया था। इसलिए सहअभिनय की व्यवस्था भाओनामें नहीं। पुरुष ही स्त्री चरित्रोंका अभिनय करता है।

भाओंनाकी सबसे बड़ी विशेषता है, निरक्षरोंको साक्षर बनाना। पात्रोंकी उक्तियोंको याद रखनेके लिए निरक्षर लोग भी साक्षर बनने का प्रयास करता है। अभिनयके द्वारा धार्मिक प्रेरणाके साथ निरक्षरता दूरीकरणका अभियान भी शंकरदेव के समयसे शुरू हुआ।

# कविराजा बाँकीदास और उनका साहित्य

हरदयाल

हिन्दी की विभाषाओं में साहित्यिक सम्पन्नता की दृष्टि से राजस्थानी का विशिष्ट स्थान है। उसमें लगभग आठ सौ वर्ष के समय में रचा गया प्रचुर और विविध साहित्य विद्यमान है। उसने हिन्दी को अनेक महत्वपूर्ण एवं उच्चकोटि के कवि प्रदान किये हैं, जिन की साहित्य-साधना से केवल साहित्य का ही भण्डार नहीं भरा है, वरन् भाषा-विज्ञान, इतिहास, संस्कृति इत्यादि ज्ञान के अन्य क्षेत्रों का भी श्लाघनीय उपकार हुआ है। राजस्थानी के ऐसे ही महत्वपूर्ण कवियों में से एक कविराजा बाँकीदास हैं। वे राजस्थानी के प्रमुखतम कवियों में से एक हैं।

जिस समय बाँकीदास का आविर्भाव हुआ, उस समय भारतीय समाज संक्रान्ति-काल से गुजर रहा था। मुसलमान, राजपूत, मराठा और अंगरेजों के पारस्परिक संघर्ष से समस्त उत्तरी भारत में राजनीतिक अस्थिरता और अनिश्चय का वातावरण व्याप्त था। हिन्दू और मुसलमान शासकों की अशक्तता, दृष्टि-दोष, चारित्रिक पतन और आर्थिक दुरवस्था के कारण अंगरेज भारतीय भूमि को बराबर दबोचते जा रहे थे। अंगरेजों के बढ़ते हुए प्रभाव और शक्ति के प्रति साधारण शिक्षित व्यक्ति का दृष्टिकोण क्या था, इसका अनुमान हमें बाँकीदास के उन गीतों से लग सकता है जो उन्होंने १८०४ ई० में अंगरेजों के द्वारा भरतपुर पर आक्रमण करने पर लिखे थे। इन गीतों में से सब से अधिक प्रसिद्ध गीत की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं

> आयो इगरेज मुलक रै ऊपर, आंहस लीधा खेंच उरा।
> धणियां मरे न दीधी धरती, धणिया ऊभां गई धरा॥
> फौजां देख न कीधी फौजां, दोयण किया न खळां-डळां।
> खवां खाच चूड़े खावद-रै, उणहिज चूड़ै गई यळा॥
>
> महिजातां, चींचातां महला, अै दुय मरण-तणा अवसाण।
> राखो रे कींहिक रजपूती, मरद हिन्दू कि मुस्सलमाण।

(बाँकीदास ग्रन्थावली, भा० ३, पृ० १०४)

किन्तु यह खेद का विषय है कि कवि ने इस प्रकार की उदात्त भावना और राष्ट्रीयता से पूर्ण काव्य कम लिखा है। इसका कारण सम्भवतः उसका राज्याश्रय ग्रहण करना एवं चारण-वंश-गत संस्कार थे। परन्तु इन स्वल्प-परिमाणवाली रचनाओं से हमें सन् १८५७

ई० में छेड़े जानेवाले भारतीय जनता के प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम की भावना के मूल का पता मिल जाता है।

**जीवन वृत्त :—**

बाँकीदास आसिया शाखा के चारण थे। उनका जन्म संवत् १८२८ (सन् १७७१ ई०) में राजस्थान के बाड़मेर जिले के भाँडियावास नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम फतहसिंह था और सरवड़ी में बाँकीदास की ननिहाल थी। बचपन में वे कुछ दिनों ननिहाल में रहे थे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा ननिहाल एवं घर पर ही हुई थी। वे प्रतिभा सम्पन्न थे। उनकी प्रतिभा लोगों पर बचपन से ही प्रकट होने लगी थी। उनकी कविता से प्रभावित होकर रायपुर के ठाकुर अर्जुनसिंह ने उनकी शिक्षा एवं रहन-सहन की व्यवस्था जोधपुर में कर दी थी। जोधपुर में रहकर बाँकीदास ने कई भाषायें सीखीं तथा काव्य, काव्यशास्त्र, छन्दःशास्त्र, इतिहास आदि का विधिवत अध्ययन किया। शिक्षा उन्होंने किसी एक गुरु से प्राप्त न करके अनेक गुरुजनों से की। स्वयं कवि ने लिखा है—'बंक इतेयक गुरु किये, जितयक सिर के केस'। यही कारण है कि हमें कवि की गद्य एवं पद्य दोनों प्रकार की रचनाओं में उसकी विद्वता के दर्शन होते हैं। इतिहास की ओर उनकी विशेष रुझान थी। 'वाँकीदास री ख्यात' को मुस्लिम कालीन भारतीय इतिहास के राजस्थानी स्रोतों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वे इसकाल के भारतीय इतिहास से सम्बन्धित अनेक फारसी ग्रन्थों से परिचित थे। उन्होंने स्वयं 'ख्यात' में (संख्या २६७८—८०) तवारीख शाहबुद्दीनी, तवारीख नासिरुद्दीनी, तवारीख अलाउद्दीनी, तवारीख फीरोजशाही, तवारीख अफगानी, तैमूर नामा, जफरनामा, तवारीख अकबरशाही, अकबरनामा, तवकाते-अकबरी, इकबालनामा, जहाँगीरनामा, तवारीख शाहजहाँनी, तवारीख आलमगीरी, तवारीख काश्मीरी, तवारीख बहादुरशाही इत्यादि की चर्चा की है।

एक मुकद्दमे के सिलसिले में संवत् १८६० (सन् १८०३ ई०) में बाँकीदास जोधपुर आये और महाराजा मानसिंह के गुरु नाथपंथी आयस देवनाथ जी से उनका परिचय हुआ। इन्हीं के माध्यम से वे महाराजा तक पहुँचे। कवि की विद्वता एवं कवित्त्व-शक्ति से प्रभावित होकर महाराजा ने उन्हें 'लाखपसाव' एवं 'कविराजा' की उपाधि से सम्मानित किया। आगे चलकर उन्हें 'मानसिंह ने अपना राजकवि और 'भाषा-गुरु' बनाया। साहित्य के साथ ही उन्हें व्यक्तिगत और राजनीतिक जीवन में भी महाराजा की अंतरंगता मिली। उस समय के समाज में एक साहित्यकार के लिए अधिकतम राज-सम्मान की जो कल्पना की जा सकती थी, वह बाँकीदास को मिला। जोधपुर के साथ ही उदयपुर में भी उनका सम्मान था।

राजनीतिक कारणों से उन्हें एकाध बार जोधपुर छोड़कर भागना भी पड़ा, तब उन्हें उदयपुर में शरण मिली। कवि के जीवन की अनेक घटनाओं तथा अन्य समसामयिक उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि वे सिद्धान्तवादी किन्तु व्यवहारकुशल, स्वाभिमानी और तीव्र प्रतिक्रियाओं वाले व्यक्ति थे।

संवत् १८९० ( १८३३ ई० ) की श्रावण सुदि ३ को कवि का जोधपुर में देहान्त हो गया। महाराजा को इसका बहुत दुख हुआ। उन्होंने अपने दुख को इन शब्दों में व्यक्त किया—

सद्-विद्या बहु साज, बांकी थी बांका वसू।
कर सूधी कवराज, आज कठी गो, आसिया ॥
विद्या कुल विख्यात, राज-काज हर रहस-री।
बांका! तो विणवात, किण आगल मन-री कहाँ ॥

रचनायें —

बाँकीदास ने प्रचुर मात्रा में साहित्य-रचना की है। अब तक उनके ४२ ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं। इन में गद्य और पद्य दोनों में लिखी रचनाएँ है। इन रचनाओं में से २६ पूर्ण और कुछ अपूर्ण रचनाएँ बाँकीदास ग्रन्थावली ( काशी नागरी प्रचारणी सभा से ) के तीन भागों में और एक रचना 'बाँकीदास री ख्यात' ( राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मन्दिर जयपुर से ) प्रकाशित हो चुकी हैं। ग्रन्थावली में प्रकाशित सभी रचनायें पद्य में है। ये सब रचनाएँ मुक्तक काव्य हैं, प्रबन्ध अथवा कथाकाव्य नहीं। मुक्तक रचना होते हुए भी एक रचना में एक ही विषय से संबंधित काव्य संग्रहीत है। 'ख्यात' गद्य रचना है और इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विषयानुसार वर्गीकरण करके बाँकीदास की रचनाओं का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है —

(१) ऐतिहासिक रचनाएँ—सुपह छत्तीसी, सिधराव छत्तीसी, और हमरोट छत्तीसी। जगमाल, रणमल, मालदेव, महाराजा गजसिंह, जसवन्तसिंह, अमरसिंह, रामसिंह, महाराणा हम्मीरसिंह, पृथ्वीराज, कान्हड़दे, गोगादे, हठी हम्मीर, वीरम, अचलदास खीची और शत्रुशल्य हाड़ा इत्यादि इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों की दानवीरों के रूप में प्रशंसा की है। सिधराव छत्तीसी में सिद्धराज जयसिंह की वीरता और विजयों का उल्लेख है। हमरोट छत्तीसी में उमरकोट ( सिंध ) के राणाओं के इतिहास का उल्लेख और वहाँ पद्मिनी स्त्रियों के रूप का नख-सिख की पद्धति पर वर्णन है।

(२) वीररसात्मक रचनाएँ—सूर छत्तीसी, सीह छत्तीसी, वीर विनोद, भुरजालभूषण।

सूर छतीसी में कवि ने स्वामिभक्त निर्भीक और युद्ध में हँसते-हँसते प्राणों की बलि देने वाले वीरों और उनके विरोधी धर्मवाले कायरों का वर्णन किया है। सीह छतीसी और वीरविनोद में सिह के माध्यम से कवि ने वीरता के आदर्श को प्रस्तुत किया है। भुरजालभूषण में चित्तौड़ गढ़ के इतिहास एवं उस पर अकबर के आक्रमण की चर्चा है।

(३) नीति, भक्ति तथा दानादि विषयक रचनाएँ—दातार बावनी, नीति मंजरी, धवल पच्चीसी, गंगालहरी, जेहल जस जड़ाव, वचनविवेक पच्चीसी, मोहमर्दन, सन्तोष बावनी, और सुजसबत्तीसी। दातार बावनी में कवि ने दान की महिमा और उससे प्राप्त होनेवाले यश की प्रशंसा की है और कंजूसी की निन्दा। साथ ही इतिहास प्रसिद्ध दातारों और कृपण व्यक्तियों का उल्लेख है। नीतिमंजरी में कवि ने शत्रु के स्वभाव, उससे रक्षा के उपाय एवं उसके विनाश के मार्ग का निर्देश किया है। धवल पच्चीसी का विषय श्वेत रंग का बैल है। कवि ने उसके गुणों की प्रशंसा की है। धवल स्वामिभक्त सेवक का प्रतीक है। गंगालहरी में कवि ने गंगा के पृथ्वी पर आने और पापियों के उद्धार की क्षमता का गद्‌गद वाणी से वर्णन किया है। जेहल जस जड़ाव में १७ वीं शताब्दी में होने वाले भारामल जाड़ेचा के पुत्र और राव खेंगार के पौत्र जेहल ( जेसल अथवा जेहा ) की दानवीरता की चर्चा की है। वचन विवेक पच्चीसी में कवि ने मधुर वाणी बोलने और कटु एवं अशिष्ट वाणी का परित्याग करने का उपदेश दिया है। मोहमर्दन में कवि ने संसार की नश्वरता, तथापि मनुष्यों की आसक्ति को समाप्त करने के उपायों की ओर संकेत किया है। सन्तोष बावनी का मुख्य प्रतिपाद्य सन्तोष की महिमा का बखान और असन्तोष, लालच तथा लोभ की निन्दा करना है। सुजस छतीसी में दातारों की प्रशंसा और अदातारों की निंदा मुख्य रूप से की गयी है।

(४) शृंगारिक रचना—अब तक उपलब्ध रचनाओं में मुख्य रूप से शृंगारिक रचना एक ही है झमाल राधिका। इसमें रीतिकालीन पद्धति पर राधा के सिखनख का वर्णन है। राजस्थानी के एक-एक झमाल छन्दमें प्रायः राधा के एक-एक अंग का वर्णन है। प्रयोग में लाये गये उपमान भारतीय साहित्य के चिरपरिचित उपमान हैं। कहीं-कहीं उत्प्रेक्षाओं में कवि की मौलिक उद्‌भावना के दर्शन होते हैं।

(५) सामाजिक व्यंग्यात्मक रचनाएं— इस वर्ग के अंतर्गत कवि की और साहित्यके क्षेत्रों में व्याप्त बुराइयों पर कठोर प्रहार किये हैं। वैसक वार्ता में कवि ने वेश्याओं, वेश्यागामी पुरुषों, वेश्या की शृंगार चेष्टाओं और झूठे प्रेमदर्शन की वास्तविकता प्रकट की है। कवि का दृष्टिकोण मध्यकालीन नैतिकतावादी है। मावड़िया मिजाज में कवि ने स्त्रैण स्वभाव के पुरुषों पर कठोर प्रहार किया है। वैसवानी, कृष्णदर्पण और कृपण पच्चीसी में कवि के व्यंग्य

का लक्ष्य यह वणिक समाज रहा है, जो छल-प्रपच और झूठ के आधार पर पूजी सचित करता है। चुगलमुखचपेटिका में कवि ने न केवल चुगलों की खबर ली है, वरन् चुगलों को कान देने वालों की भी निन्दा की है। विदुरबत्तीसी में उन लोगों को चर्चा है जिन्हें राजस्थानी में गोला (दासी पुत्र) कहा जाता है। बाँकीदास ने इन्हें तिरस्कार और निन्दा की दृष्टि से देखा है, किन्तु आज इन्हें सहानुभूति की दृष्टि से (आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'गोली' उपन्यास) देखा जाता है। कायरबावनी में कविने कापुरुषों का मजाक उड़ाया है। इस रचना के सबसे सुन्दर अश वे हैं जिन में कवि ने युद्ध से भागे कायर और उसकी पत्नी के बीच कथोपकथन की योजना की है। कुकविबत्तीसी म कवि काव्य को चोरी करने वाले, कवि-प्रतिभा से हीन तथापि महाकवि होने का ढोंग रचने वाले कवियों पर व्यग्य किया है। इस वर्ग की रचनाओं की मुख्य उपलब्धि कवि की व्यग करने की क्षमता है।

(६) स्फुट सग्रह—बाँकीदास ग्रथावली के तीसरे भाग के अन्त में कवि के राजस्थानी गीत, कुछ व्रजभाषा के कवित्त और सवैये, रस और अलकार सम्बन्धी तथ्य के अपूर्ण अश, वृत्तरत्नाकर का बाँकीदास कृत अपूर्ण डिंगल अनुवाद, और काव्य के गुणदोषों से सम्बन्धित खण्डित ग्रन्थ सग्रहीत हैं।

(७) बाँकीदास री ख्यात—कवि की यह गद्य-रचना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें राजपूतों के विभिन्न राजवशों के लगभग आठसौ वर्षों के इतिहास से सम्बन्धित अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। यह रचना क्रमबद्ध इतिहास नहीं है, वरन् घटनाओं, व्यक्तियों और स्थानों से सम्बन्धित फुटकल टिप्पणियों का सग्रह है। प्रामाणिकता की दृष्टि से यह दयालदास और मुँहणोत नैणसी की ख्यातों से भी श्रेष्ठतर है। इस में २७७६ सख्यायें है। इसकी महत्ता की ओर संकेत करते हुए ओझा जी ने अपने एक पत्र में लिखा था—"पुस्तक बड़े महत्व की है। ग्रन्थ क्या है इतिहास का खजाना है। राजपूताना के तमाम राज्यों के इतिहास—सम्बन्धी अनेक रत्न उसमें भरे पड़े हैं। उसमें राजपूताना के बहुधा प्रत्येक राज्य के राजाओं, सरदारों, मुत्सद्दियों आदि के सम्बन्ध की अनेक ऐसी बातें लिखी हैं जिनका अन्यत्र मिलना कठिन है। उस में मुसलमानों, जैनों आदि के सम्बन्ध की भी बहुत-सी बातें हैं। अनेक राज्यों और सरदारों के ठिकानों की वशावलियाँ, सरदारों के वीरता के काम, राजाओं के ननिहाल, कुवरों के ननिहाल आदि का बहुत कुछ परिचय है। कौन-कौन से राजा कहाँ-कहाँ काम आये, यह भी विस्तार से लिखा है। अनेक राजाओं के जन्म और मृत्यु के सवत, मास, पक्ष, तिथि आदि दिये हैं।" (उद्धृत बाँ० ग्र० भाग ३, प्रस्तावना—पृ० ६-७)।

(८) अप्रकाशित रचनाए—कवि की कई रचनाए अप्रकाशित हैं। इन में से कुछ

रचनाएं तो विविध संस्थागत एवं व्यक्तिगत हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह में सरलता से प्राप्य हैं. किन्तु कई रचनाओं का उल्लेख मात्र मिलता है। विषय की दृष्टि से ये सभी रचनायें उपर्युक्त वर्गीकरण में अन्तर्भुक्त हो जाती हैं। ये रचनाएं हैं—कृष्णचन्द्र चंद्रिका, विरह चन्द्रिका, चमत्कार चंद्रिका, मानजसोमंडण, चन्द्रदूषणदर्पण, वैशाखवार्ता संग्रह, श्रीदरबार री कविता, वृत्तरत्नाकर, महाभारत का छन्दोऽनुवाद, थलवट पच्चीसी, मानसिंघ जी रा रूपक।

रचनाओं के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कवि ने अपने साहित्य-सर्जन के विषयों को जीवन के विविध क्षेत्रों से चुना है। ऐतिहासिक एवं सार्वकालिक विषयों के अतिरिक्त उसने अपनी लेखनी ऐसे विषयों पर भी चलायी है, जो नितान्त समसामयिक हैं।

**साहित्य सौष्ठव :—**

बाँकीदास की कविता तीव्र भावावेग की कविता नहीं है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि उनकी भाषा आविष्ट ( चार्ज्ड ) भाषा नहीं है। वह सीधी-सादी भाषा है, जिसमें वक्रता का सर्वथा अभाव है। वह मुख्य रूप से शब्द की अभिधा शक्ति पर आधारित है। उस में प्रसाद गुण तो सर्वत्र विद्यमान है, किन्तु ओज और माधुर्य का पता प्रयास करने पर ही मिलता है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों की अपेक्षा देशज शब्दों, तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। अरबी और फारसी के भी उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है जो अत्यधिक प्रचलित थे। अरबी-फारसी के शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि यदि ९ शब्द अरबी के हैं तो १ शब्द फारसी का है। हिन्दी में अरबी के ये शब्द निःसन्देह फारसी के माध्यम से आये हैं। यत्र-तत्र कुछ मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है, किन्तु वह बाँकीदास की ऐसी विशेषता नहीं है कि पाठक का ध्यान आकर्षित कर सके। वाक्य सरल हैं, अक्सर लघु आकार के। गद्य की भाषा की अपेक्षा पद्य की भाषा में व्याकरणिक रूपों की विविधता है, जो स्वाभाविक है। किन्तु व्याकरण की दृष्टि से गद्य और पद्य की भाषा में अशुद्धता, अनियमितता और अव्यवस्था कहीं भी नहीं मिलेगी। गद्य और पद्य की भाषाएँ अपने वाह्य स्वरूप और अभिव्यञ्जना शक्ति में एक दूसरे के पर्याप्त निकट हैं। सामूहिक रूप से बाँकीदास की भाषा का मुख्य गुण उसकी शुद्धता, स्वच्छता, सरलता और स्पष्टता है। डिंगल के जिस सरलतम साथ ही परिनिष्ठित रूप की कल्पना की जा सकती है, वह हमें बाँकीदास की रचनाओं में मिलता है।

शैली पक्ष में चमत्कार का मुख्य साधन अलंकारों का प्रयोग रहा है। कवि की काव्य-रचनाओं में ऐसे पद्य दुर्लभ ही हैं, जो निरलंकृत हों। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग किस प्रचुरता के साथ किया है, यह अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि 'धवलपचीसी' नामक

छोटी-सी रचना में कवि ने शब्दालंकारों को छोड़कर १४ प्रकार के अर्थालंकारों-हेतु, विचित्र, सम, आक्षेप, अप्रस्तुत प्रशंसा, समुच्चय, विधि, उदात्त, अधिक, अनन्वय, निरुक्ति, विषाद और विनोक्ति) का ३७ बार प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'नीति मंजरी' में १२ प्रकार के अर्थालंकारों का ४२ बार प्रयोग किया है। विविधता की दृष्टि से बाँकीदास की रचनाओं में प्रयुक्त अलंकारों का बहुत विस्तार है। उनकी काव्य रचनाओं में प्रयुक्त मुख्य अलंकार हैं—शब्दालंकार, वैणसगाई, अनुप्रास, श्लेष, यमक और वक्रोक्ति, अर्थालंकार उपमा, रूपक, संदेह, भ्रान्तिमान, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, व्यतिरेक, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, आक्षेप, विनोक्ति, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, असंगति, काव्यलिंग, यथाक्रम, अर्थापत्ति, समुच्चय, प्रतीप, उदाहरण, लोकोक्ति, हेतु, विधि, उदात्त, निरुक्ति, अनन्वय, विषाद इत्यादि। इतने अधिक अलंकारों का प्रयोग करने पर भी कहीं यह नहीं लगता कि कवि किसी अलंकार का सायास प्रयोग कर रहा है। अनेक स्थलों पर हमें अलंकारों के प्रयोग में कवि की मौलिक उद्भावनाओं के दर्शन होते हैं। डिंगल में रची गयी अधिकांश कविता के समान बाँकीदास की कविता भी वर्णनात्मक और विवरणात्मक है। अतएव अलंकारों में ऐसे ही अलंकार अधिक प्रयुक्त हुए हैं जो कविता की इस प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल पड़ते हैं।

बाँकीदास की भाषा पर विचार करते समय सर्व प्रथम हमें इस तथ्य का सामना करना पड़ता है कि उन्होंने दो भाषाओं का प्रयोग किया है—(१) व्रजभाषा का और (२) राजस्थानी (मारवाड़ी या डिंगल) का। अभी तक बाँकीदास की व्रजभाषा की कविताएं अत्यल्प परिमाण में—गिने-चुने कवित्त सवैयों के रूप में—उपलब्ध हुई हैं। इसलिए उनकी राजस्थानी-रचनाओं की भाषा के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व उनकी व्रजभाषा के सम्बन्ध में संक्षेप विचार कर लेना उचित होगा।

जिस समय बाँकीदास काव्य-रचना कर रहे थे, उस समय मध्यदेश के अन्य क्षेत्रों के समान राजस्थान में भी व्रजभाषा दृढ़ता के साथ स्थापित हो चुकी थी। चारणों, भाटों आदि को छोड़कर शेष सभी उसका प्रयोग करते थे। चारण होने के नाते बाँकीदास की रचनाओं की भाषा भी मुख्यतः मारवाड़ी ही है, तथापि युग के प्रवाह के कारण वे व्रजभाषा की उपेक्षा नहीं कर सके हैं। उनकी जो थोड़ी-सी व्रजभाषा की कविता उपलब्ध है, वह एक ओर कवि के व्रजभाषा पर अधिकार की द्योतक है और दूसरी ओर व्रजभाषा के साहित्यिक उत्कर्ष एवं परिष्कार की। नीचे उद्धृत बाँकीदास का एक सवैया हमारे इस कथन का साक्षी है —

नृप मान के बंक सुभाव बिलोकत चित्त की वृत्ति अचम्भो धरै।
चतुरानन आन पढ़ावै विचच्छन तोउ न जीम नकार ररै।
सुरवैद धनंतर संजुत आन नयो रच चूरन दैरु अरै।
नहिं जद्यप रीज पचै यह को गज गांम गुनीन कौ दान करै॥

(बाँ, ग्रं०, भा० ३ ; पृ० १३५)

बाँकीदास ने व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष और काव्य की दृष्टि से प्रांजल व्रजभाषा का प्रयोग किया है।

हम अभी कह चुके हैं कि बाँकीदास की रचनाओं की मुख्य भाषा मारवाड़ी राजस्थानी है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बाँकीदास की भाषा पश्चिमी राजस्थानी की मुख्यतम विभाषा है। सोलहवीं शती तक यह और गुजराती एक थीं। बाद में, व्रजभाषा का प्रभाव पड़ने के कारण इसका अलग स्वरूप निर्मित हुआ। बाँकीदास के समय तक यह पूर्णतया निखरे एवं नियमित रूप को प्राप्त हो चुकी थी। बाँकीदास में हमें यही परिपक्व रूप मिलता है। उनका शब्दकोश सम्पन्न है। मूल डिंगल शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। ऐसा शायद ही कोई छन्द होगा जिसमें दो चार तत्सम शब्द न मिलें; किन्तु इन के कारण मूल भाषा का अपना स्वरूप ढंक नहीं गया है। तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्द डिंगल की अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल बन कर आये हैं। कवि ने किसी विशेष आग्रह से रीतिकालीन कवियों के समान शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा नहीं है। परिस्थितियों के कारण स्वाभाविक रूप से उनकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्द आ गये हैं। ये शब्द भी तत्सम और तद्भव दोनों रूपों में आये हैं। तत्सम रूप में वही शब्द बने रह सके हैं जिनका उच्चारण डिंगल के अनुकूल एवं सरल है, अन्यथा उनमें ध्वनिपरिवर्तन हो गया है। अरबी-फारसी के कुछ ऐसे शब्द भी प्रयोग में लाये गये हैं जो जनसाधारण में आज तो प्रचलित 'हैं ही नहीं, शायद बाँकीदास के समय में भी नहीं रहे होंगे। कहीं कहीं इनका अरबी-फारसी व्याकरण के अनुसार प्रयोग किया गया हैं। अरबी-फारसी के प्रयुक्त शब्दों में अरबी शब्दों की अधिकता है।

जब हम बाँकीदास की भाषा के व्याकरण अर्थात् कारक-विभक्तियों, संज्ञा-रूपों, सर्वनामों विशेषणों, क्रिया-रूपों, अव्ययों, वाक्य-रचना आदि पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि व्याकरण की दृष्टि से वह प्रायः निर्दोष और परिष्कृत है। कविता की भाषा में व्याकरणात्मक रूपों की विविधता स्वभावतः मिलती है। इस दृष्टि से बाँकीदास की गद्य की भाषा में व्याकरणगत रूपों की एकरूपता पूर्णतः विद्यमान है। कवि की भाषा में सफाई और स्पष्टता

सर्वत्र विद्यमान है। यह स्थिति इस बात का प्रमाण है कि कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है, किन्तु भाषा का, विशेष रूप से साहित्यिक भाषा का, केवल शास्त्रीय (व्याकरण-गत) पक्ष ही नहीं होता, वरन एक महत्वपूर्ण पक्ष कलात्मक भी होता है। अत इस बात का विचार करना कि बाँकीदास की भाषा की कलात्मक उपलब्धि क्या है, विशेष महत्वपूर्ण है।

कविता और गद्य के अनेक विभाजक तत्वों में से एक महत्वपूर्ण तत्व भाषा है। कविता की भाषा गद्य की भाषा से कुछ अर्थों में समता रखती है और कुछ अर्थों में भिन्नता। समता व्याकरण की दृष्टि से होती है, यद्यपि इस दृष्टि से भी दोनों में भिन्नता हो सकती है, जैसे वाक्य-विन्यास की भिन्नता आदि। पर मुख्य भिन्नता प्रकृति की दृष्टि से है। जब एक ही भाषा कविता और गद्य दोनों में प्रयुक्त होती है तो उसकी उन दोनों माध्यमों की प्रकृति भिन्न-भिन्न हो जाती है। इसलिए प्रश्न उठता है कि क्या बाँकीदास के काव्य ग्रन्थों में प्रयुक्त भाषा उनके गद्य-ग्रन्थों में प्रयुक्त भाषा से प्रकृत्या भिन्न है? इसका उत्तर यह है कि दोनों में बहुत अन्तर नहीं है। बाँकीदास की कविता का बहुत बड़ा अंश मात्र 'पद्य' है, 'कविता' नहीं, अतएव दोनों की भाषा में समानता अधिक है, विषमता कम, तथापि कविता की भाषा ठेठ गद्य-भाषा की अपेक्षा अधिक कलात्मक तो है ही।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार कविता की भाषा की पहली विशेषता यह है कि "उस में गोचर रूपों का विधान अधिक" होता है। गोचर रूपों का विधान भाषा की लाक्षणिक शक्ति के प्रयोग के द्वारा किया जाता है। बाँकीदास इस दृष्टि से हमें निराश करते हैं। उन्होंने भाषा की लाक्षणिक शक्ति का प्रयोग बहुत कम किया है। जहाँ उन्होंने इसका प्रयोग किया भी है, वहाँ वह अत्यन्त साधारण कोटि का है, जैसे—

(१) मावड़िया मन मांकरी, सौ गाड़ां भर सीत।

(२) मावड़िया सोहै नहीं, मुख मूछां सिर सूत।

(३) दिन दुलहा माणोगरा, इण गढ़ रा धणियांह॥

इन उदाहरणों में 'सीत' (भय) और 'दिन दुलहा' (बांके वीर) में प्रयोजनवती साध्यवसाना गौणी लक्षणा है और 'सूत' (पगड़ी) में रूढ़ा शुद्धा (अगी-अग भाव) लक्षणा है। इस से इस क्षेत्र में कवि की विशेष सामर्थ्य का पता नहीं चलता। हाँ, अलकारों के प्रयोग में उस ने अवश्य भाषा की लाक्षणिक शक्ति का सुन्दर उपयोग किया है। लोकोक्तियों और मुहावरों का सम्बन्ध भाषा की लाक्षणिक शक्ति से है। बाँकीदास में यत्र-तत्र इनका जो प्रयोग हुआ है वह इस बात का साक्षी है कि उन्होंने उनके मूल रूप को यथासम्भव सुरक्षित बनाये रखकर उनका कुशलतापूर्वक प्रयोग किया है। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग के साथ

जुड़े रहनेवाले कई प्रयोजनों, यथा—लाघव, सशक्त भाषा, प्रभावोत्पादकता आदि—की सिद्धि करने में वे सफल रहे हैं, किन्तु यह उनकी भाषा-शैली की ऐसी विशेषता नहीं है जो उन्हें अन्य कवियों से भिन्न करती हो अर्थात् यह उनकी भाषा की मूल प्रवृत्ति नहीं है। उनकी भाषा में उर्दू कवियों तथा हिन्दी के घनानंद या गुरुभक्त सिंह 'भक्त' जैसी मुहावरेदानी की विशेषता नहीं है। कहीं-कहीं मुहावरों-लोकोक्तियों का प्रयोग नितान्त गद्यात्मक ढंग से हुआ है—

'सरब सयाना एक मत', कहवत सांची कीध।

इतना होने पर भी इनका महत्व कवि की भाषा में इसलिए भी है कि उसकी भाषा की सीमित लाक्षणिकता में ये भी योग-दान करते हैं।

बाँकीदास वस्तुतः अभिधा के कवि हैं। अभिधात्मक कविता निश्चित रूप से निम्नकोटि की ही नहीं होती है। यदि कविता का वक्तव्य ( भाव-पक्ष ) उदात्त है तो अभिधा के द्वारा भी उच्चकोटि की काव्य-रचना हो सकती है। यह उदात्तता जीवन के उच्चतर मूल्यों के लिए उद्भूत आवेग के उन्मद एवं उत्साहपूर्ण विस्फोट में हो सकती है। औदात्य का यह स्वर बाँकीदास के "आयो इंगरेज मुलक रे ऊपर…" इत्यादि गीत में मिलता है। जिस घटना ( भरतपुर पर अंग्रेजों का आक्रमण ) से प्रेरित होकर यह गीत लिखा गया है, उस से सम्बद्ध कवि के कुछ अन्य गीत भी मिले हैं और इन गीतों में यह औदात्य का स्वर बराबर मिलता है। इन गीतों की भाषा अभिधात्मक है, किन्तु यह उच्चकोटि की कविता की भाषा है, इसमें सन्देह नहीं। इन गीतों को छोड़कर अन्यत्र बाँकीदास इस औदात्य को प्राप्त नहीं कर सके हैं। इस अभिधात्मक शैली की कुछ भाषागत विशेषताएं भी हैं। पहली विशेषता है भाषा की सफाई, त्रुटिहीन प्राञ्जलता। इसी विशेषता से बाँकीदास की भाषा में प्रसाद गुण आया है। कहीं से भी कोई भी अंश उठा लीजिए, कवि के विचार और उसकी अनुभूतियों को समझने में दिक्कत नहीं होगी। कहीं-कहीं प्रसादन दोष की सीमा तक पहुँच गया है :

देव पितर इन सूं डरै, रसक करै किण रीत।
हेम रजत पातर हरै, पातर करै पलीत॥

प्रसाद गुण के साथ ही ओज और माधुर्य के अवसरानुकूल उदाहरण भी हमें कवि की भाषा में मिल जाते हैं—

(१) ओज

(क) दुय चत्रमास वादियो दिखणी, भौम गई सो लिखत भवेस।
पूगो नहीं चाकरी पकड़ी, दीधो नहीं मढ़ैठो देस॥

(ख) वजियो भलो भरतपुर वालो, गाजै गजर धजर नम गोम ।
पहलां सिर साहब रो पड़ियो, मड़ ऊभै नंह दीधी मोम ॥

(२) माधुर्य

(क) हरै लीनो हियो तनां हरियालियां, सोर कर सरे दादुर सुहाया ।
गाज ऊडो करे मेघ आया गयण, नागरी कान जी धरे नाऽया ॥

(ख) भमणै भमर वास रस भूला, सब रत फल दल फूल समाज ।
वलसौ रस वस जाय वगीछां, राधा जनक तणां व्रजराज ॥

माधुर्य के उदाहरणों, विशेष रूप से दूसरे उदाहरण में प्रयुक्त दो दो तीन-तीन वर्णों के छोटे-छोटे सुकुमार शब्द वर्ण्य और रस की दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त हैं ।

भाषा का भावानुसार होना उसका एक विशेष गुण है । नीचे के दोहे में कवि ने अरबी और फारसी तथा देशज शब्दों का सुन्दर प्रयोग विलास के चित्रण के लिए किया है । शब्दों के साथ जातीय संस्कृति किस प्रकार जुड़ी रहती है, यह दोहा इस बात का भी एक प्रमाण है—

आलीजा अलबेलिया, हो हजा हुसनाक ।
मीनोड़ा रसिया भमर, छैल पियो मद छाक ॥

"भावना को मूर्तरूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति संकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं ।" (आ० रामचन्द्र शुक्ल) अर्थात् कवि को चाहिए कि वह सिद्धान्त-कथन की अपेक्षा चित्रात्मक वर्णन, जाति-निर्देश की अपेक्षा व्यक्ति-निर्देश को प्रश्रय दे । उसे पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग से बचना चाहिए, क्योंकि इससे कुरुचिपूर्ण चमत्कार भले ही आ जाये, किन्तु रसानुभूति में निश्चय ही बाधा पड़ती है, काव्य में अप्रतीतत्व दोष आ जाता है । बाँकीदास ने पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग तो नहीं किया है, परन्तु जाति कथन और उपदेशात्मकता पर्याप्त मात्रा में है । उनके काव्य का पर्याप्त अंश सामान्यीकरण ('जनरलायजेशन') के अन्तर्गत आ जाता है । किन्तु कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ जाति-संकेतों की अपेक्षा व्यक्ति संकेतों को अपनाया गया है । 'भुरजाल भूषण' में जयमल-पत्ता की दर्पोक्तियाँ, अकबर की गर्वोक्तियाँ और आसफ खां के साथ उसका संवाद, 'सूर छतीसी' में 'सखी अमीणो कन्त' से प्रारम्भ होनेवाले दोहे और 'कायर बावनी' में युद्ध से भाग कर आये कायर पति और उसकी वीरपत्नी के बीच का संवाद आदि ऐसे ही स्थल हैं । जब कायर की पत्नी उस से कहती है —

पाघ बजाजां पूछ पी, लैसो मोल मंगाड़।
ईजत किण विध आणसो, पूछूं हेला पाड़॥

तो इस की भाषा की काव्यात्मकता में किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न नहीं होता। यहाँ भाषा में एक अनिर्वचनीय दीप्ति एवं प्रभविष्णुता आ गई है।

काव्य की भाषा गद्य की भाषा से एक और दृष्टि से भिन्न होती है और वह दृष्टि है वर्ण विन्यास। कविता की भाषा का वर्ण-विन्यास नाद-सौन्दर्य पर आधारित होता है। बाँकीदास की कविता में हमें इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं—

(१) नारायण देवा मही, ज्यूं तारायण चन्द।
कमला पग चंपी करै, बंक संक तज बंद॥

(२) ताजदार बैठो तखत, रज में लोटे रंक।
गिणे दुनां नूं हेक गत, निरदय का निसंक॥

(३) पार परवे राजी प्रजा, पाजो न करे पाप।
साजी ताजी साहिबी, माजी रे परताप॥

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि ने नाद-सौंदर्य के लिए मुख्य साधन के रूप में वेण-सगाई और अनुप्रास इन दो शब्दालंकारों का प्रयोग किया है। डिंगल में नाद-सौंदर्य मुख्यतया वेण-सगाई पर ही आधारित है और यह अलंकार बाँकीदास की कविता में सर्वत्र विद्यमान है। ड, ड़, ण, ल राजस्थानी की अपनी विशिष्ट प्रयोग-बहुल ध्वनियाँ हैं। राजस्थानी से अपरिचित और उसकी ध्वनियों के अनभ्यस्त कानों के लिए ये कटु हो सकती हैं, किन्तु उनमें भी अपना नाद-सौंदर्य है, इसे स्वीकार करना पड़ेगा। फिर आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र नाद-सौंदर्य कोमल वर्णों पर ही आधारित हो। कठोर वर्णसंयोजन भी अपनी भाव और विषय की अनुकूलता में गुण माना जायेगा।

इस प्रकार कविता की भाषा की दृष्टि से बाँकीदास की भाषा की उपर्युक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि वह निर्दोष नहीं है। उसमें काव्यात्मकता की अपेक्षा गद्यात्मकता अधिक है, तथापि इतना मानना पड़ेगा कि वह कलात्मक कम भले ही हो, प्रौढ़ और प्राञ्जल अवश्य है।

छन्दों के प्रयोग में बहुत अधिक विविधता नहीं है। कवि का सब से प्रिय छन्द दोहा है। इसीलिए उस की रचनाओं में सब से अधिक दोहा एवं उसके भेदों का प्रयोग हुआ है। प्रकाशित रचनाओं में ११३१ बार दूहा, ७५ बार सोरठियो दूहा (सोरठा) ६ बार बड़ो दूहा, और एक बार तूवरो दूहा का प्रयोग हुआ है। दोहे के अतिरिक्त सवैया, कवित्त और छप्पय का स्वल्प मात्रा में प्रयोग मिलता है। राजस्थानी के विशिष्ट गीतों में झमाल, प्रहास या

गमित साणोर, शुद्ध साणोर, छोटा साणोर, सुणद साणोर सोहण, वेलियो, झडमुगट, धमाल, अरटियों और सपंख आदि प्रयोग में लाये गये हैं। स्पष्ट है कि हमें अलकारों के प्रयोग में जिस विविधता और विस्तार के दर्शन होते हैं, वह छन्दों में नहीं।

बाँकीदास का व्यक्तित्व बहिर्मुख था। इसलिए उनकी सम्पूर्ण साहित्यिक रचनाओं में बहिर्मुख शैली के दर्शन होते हैं। एकाध रचना में एकाध स्थल पर आये कथोपकथनों को छोड़ दिया जाय तो सर्वत्र हमें उपदेश, वर्णन और विवरण के दर्शन होते हैं। इस से काव्य-तत्व की हानि ही हुई है। और गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार की रचनाओं में एक प्रकार की एकधृष्टता ( मोनोटनी ) सी आ गई है। तथापि साहित्य, भाषा-विज्ञान, सस्कृति और इतिहास की दृष्टि से बाँकीदास एक महत्वपूर्ण कवि हैं।
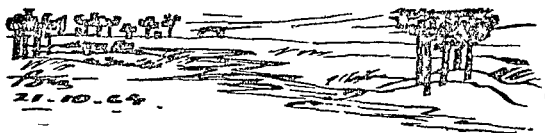
# संस्कृत काव्यशास्त्र में 'लक्षण' तत्त्व एवं उसका दशपक्षी सिद्धान्त

राजेन्द्र मिश्र

२

( गतांक से आगे )

प्रथम पक्ष के अनुसार लक्षण काव्यशरीर के आन्तरिक पृथक् सिद्ध धर्म हैं। यद्यपि काव्यशरीर का प्रसाधन गुण एवं अलंकार भी करते हैं, किन्तु लक्षणों से उनका पार्थक्य इस कारण है कि वे काव्यशरीर के बहिरंग का ही प्रसाधन करते हैं, अतः वे सर्वथा पृथक् सिद्ध हैं। शरीर से हम वस्त्राभूषण उतार कर फेंक सकते हैं ( क्योंकि वह केवल शोभार्थ धारण किया गया है, वस्तुतः वह शरीर से पृथग्भूत है ), किन्तु होठों की लालिमा, चितवनों की स्निग्धता, अथवा शरीर के लावण्य को हम किसी प्रकार दूर नहीं कर सकते। आखिर क्यों? इसलिए कि वे शरीर के 'अन्तरङ्ग-पक्ष' हैं, हाड़, माँस तथा चमड़े से पृथक् होते हुए भी उसी में अन्तर्भूत हो चुके हैं। वाह्य भूषण इसी 'अन्तरङ्ग-पक्ष' को भूषित करते हैं, और सत्य तो यह है कि उपर्युक्त 'आन्तरिक तत्त्व' ही भूषणों को 'भूषण' बनाते हैं, अन्यथा कोढ़ी अथवा मुर्दे पर 'भूषण' पहिना कर हम देखे कि ऐसा करने से कितना सौंदर्य बढ़ता है? ठीक यही दशा लक्षणों की भी है। इसी कारण आचार्य अभिनव ने कहा था—'लक्षणानि हि अलंकारानपि चित्रयन्ति' ( अभि० पृ० ३०३ )।

डा० राघवन् कृत व्याख्यान में भी यह पक्ष 'प्रथम' रूप में ही लिया गया है। किन्तु अपने व्याख्यान के पश्चात्, अन्त में उद्धृत किये गए 'अभिनव भारती' के अंश में डा० राघवन् एक नवीन वाक्य देते हैं—'तत्र प्रथम पक्षे वर्णनीय प्रधानभूताधिकारपुरुषगतगुण विभाव एव काव्ये पर्यवसीयते'। इस वाक्य के पहले की 'अभिनव भारती' वही है जो बड़ौदा संस्करण में प्राप्त है।[१] डा० राघवन् ने उसे अपनी पाण्डुलिपि ( मद्रास पुस्तकालय ) के पृ० ३७९ से उद्धृत किया है। उपर्युक्त वाक्य पृ० ३८० का है। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष ( जो

---

१. नाट्यशास्त्र के प्राचीन प्रकाशित संस्करण इस प्रकार हैं—
क—काव्यमाला संस्करण—निर्णयसागर प्रेस बम्बई।
ख—चौखम्बा संस्करण—विद्याविलास प्रेस, काशी।
ग—बड़ौदा संस्करण—'गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज नं० ६८' बड़ौदा, सन् १९३४ ई०। श्री रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित।

दोनों सस्करणों में समान है ) पृ० ३८० से उद्धृत किया गया है। अत सम्भव है कि यह वाक्य मद्रास पाण्डुलिपि में 'प्रथमे पक्षे' का ही अश हो। इस वाक्य का सङ्केत मनुष्यों के अगों में प्राप्त सामुद्रिक लक्षणों से है, जैसा कि द्वितीय पक्ष में स्पष्ट किया गया है—'काव्यगतस्यातिप्राशस्त्योपयोगितया, महापुरुषगतख्यातिपाशध्वजपादरेखादिवल्लक्षणशब्दवाच्यता' ( पृ० २९६ )।

किन्तु डा० राघवन् द्वारा उद्धृत यह वाक्य वस्तुत तृतीय पक्ष का है जिसमें दो विकल्प हैं। डा० राघवन् ने शायद 'प्रथमे पक्षे' देख कर ही इसे पहले मत में जोड़ लिया, किन्तु यह तथ्य अनवेय है कि दूसरा विकल्प भी इसके बादही 'द्वितीये पक्षे' के रूप में दिया गया है ( द्रष्टव्य—अभि० पृ० २९२ )। अत डा० राघवन् ने, जो तृतीय पक्ष को अपनी व्याख्या में नहीं लेते, इस वाक्य का गलत अर्थ किया है। इस वाक्य का उचित अर्थ हम तृतीय पक्ष के व्याख्यान में स्पष्ट करेंगे।

प्रो० भट्टाचार्य ने प्रथम पक्ष का सम्बन्ध काव्य के 'प्रतिपाद्यसघटन' एव 'कविवाङ्निर्मिति' से माना है। ऐसा लगता है कि 'पाक' 'मुद्रा' तथा 'शैय्या' की प्रेरणा लेखक ने डा० सुशील कुमार दे द्वारा प्रणीत निबन्ध से ली है।[२] डा० दे ने केवल 'शब्दार्थ साहित्य' को प्रख्यातार्थ में 'साहित्य' नहीं स्वीकार किया है, क्योंकि काव्यगत 'साहित्य में कुछ वैशिष्ट्य अवश्य रहता है—

डा० दे ने चार प्रमुख 'विशेष तत्त्वों' की उद्भावना की है—

१ महाकवि बाणभट्ट की 'शैय्या' (जिसे अग्निपुराण में उसी अर्थ में 'मुद्रा' कहा गया है)।

२, आचार्य वामन का 'पाक'।

३ आचार्य भरत का 'लक्षण' तथा ४ आचार्य भामहादि द्वारा स्थापित 'अलकार'। अस्तु, प्रसगोपात्त होने के कारण इन तत्त्वों की अपेक्षित व्याख्या करनी आवश्यक है। यहाँ इतना संकेत कर देना भी प्रसगानुकूल ही होगा कि तुलनात्मक दृष्टि से 'शैय्या पाक एव मुद्रा' का स्थान गुण एव अलकार के ही बराबर है। वे सबके सब काव्य के बहिरग पक्ष ही हैं, जब कि लक्षण काव्य के अतरग साथ ही साथ पृथक् सिद्ध धर्म हैं। उदाहरणार्थ आचार्य वामन का 'शब्दपाक' लीजिए। काव्याङ्गों की चर्चा करते समय 'प्रकीर्णाङ्गों' के रूप में वामन

---

२ अन्नामलाई ( सन् १९३५ ) तथा बम्बई ( १९४३ ई० ) विश्वविद्यालयों में दिए गए भाषणों का विषय, जो निबन्ध रूप में, ढाका यूनिवर्सिटी स्टडीज, भाग १ तथा न्यू इण्डियन ऐटीक्वेरी भाग ९ १ ३ में छपे थे। द्रष्टव्य, दे कृत पुस्तक—सम प्राब्लेम्स आफ संस्कृत पोएटिक्स का प्रथम निबन्ध ( द प्राब्लेम आफ पोएटिक एक्सप्रेशन ) कलकत्ता, १९५९ ई०।

ने सात तत्त्व गिनाए हैं—लक्ष्यज्ञत्व-अभियोग, वृद्धसेवा अवेक्षण, प्रतिभान, अवधान, देश और काल। इनमें से 'अवेक्षण' का अर्थ है कविता में पदों का रखना और हटाना ( पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।३।१५ )। जब कविता ऐसी स्थिति में आ जाय कि शब्दों का हटाना सम्भव न हो तब उसे 'शब्दपाक' कहते हैं।३ वामन का यह मत स्पष्टतः उस 'सौशब्द्य' सिद्धान्त की भाँति है जिसका उल्लेख आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ में किया है।४ 'शब्दपाक' की यह स्थिति निश्चित रूप से 'रसानुभूति' से बहिर्भूत है, अतएव 'लक्षण' जिसका मूल लक्ष्य, 'विभावादि वैचित्र्य' सम्पादित करने के साथ ही साथ चित्तवृत्त्यात्मक रस को भी लक्षित करना है, 'पाक' से विशिष्ट-तत्त्व है। 'पाक' 'त्रिविध अभिधाव्यापार रूप' लक्षण का इस दृष्टि से एक अंग मात्र होगा, क्योंकि 'लक्षण' आचार्य अभिनव के शब्दों में—'शब्दानां शब्दैः अर्थानामर्थैः शब्दानामर्थैस्तथापरैः संघटनां विचित्रां कारयमाणाऽऽभिधाव्यापारवती युक्तिनिर्वाणप्रधानधुराधिरोही लक्षणाख्य एव' ( अभि० पृ० २९७ ) रूप का है।

'शब्दपाक' का उपर्युक्त रूप डा० दे ने भी अपनी व्याख्या में स्वीकार किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने पाकविषयक आचार्यमङ्गल का भी मत राजशेखर कृत 'काव्यमीमांसा' से उद्धृत किया है, जिसके अनुसार पाक 'सौशब्द्य' (सुशब्दव्युत्पत्ति ) मात्र है। दे के अनुसार 'शैय्या तथा मुद्रा' का सम्बन्ध भी प्रायेण 'शब्दव्युत्पत्ति' मात्र से है, रस से नहीं। ऐसी दशा में उनका 'लक्षण' के साथ कोई साम्य नहीं। और यदि थोड़ी देर के लिए हम ऐक्य अथवा साम्य स्थापित करना भी चाहें, तो लक्षण-पाक के बीच 'अङ्गी तथा अंग' का ही सम्बन्ध हो सकेगा।

किन्तु 'पाक' का एक और भी रूप है, जिसे आचार्य वामन ने तृतीयाधिकरण में, अर्थगुणों की समाप्ति के बाद, अपनी संग्रहकारिकाओं में 'काव्यपाक' के रूप में व्याख्यात किया है। 'काव्यपाक' का अर्थ है 'स्पष्टतः गुणों का सान्निध्य' ( 'गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते' ) और चूँकि वामन के गुणों का बहुत कुछ संबन्ध 'रसपरिपाक' से भी है, अतः अप्रत्यक्ष रूप से हम 'काव्यपाक' को 'रसानुभूतिपरक' मान सकते हैं। यद्यपि डा० दे ने इस नवीन तथ्य

---

३. यत्पदानित्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १।३।१५ की संग्रहकारिका।

४. रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे सुपां तिङांश्च व्युत्पत्ति वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी············काव्यालङ्कार १।१४-१५।

की ओर अपनी 'पाकसिद्धान्तव्याख्या' में कोई सङ्केत तक नहीं किया है, किन्तु यह स्पष्ट धारणा है कि आचार्य वामन का 'शब्दपाक' तो नहीं, किन्तु 'काव्यापाक' अवश्य ही 'लक्षणों' के समकक्ष है। 'शब्दपाक' का प्रबल खण्डन करती हुई अवन्तिसुन्दरी ने 'पाक' का जो 'आदर्शस्वरूप' स्थापित किया है, वस्तुत: वही 'लक्षणों' की ओर संकेत करता है, और वामनाचार्य का 'काव्यपाक' भी बहुत कुछ उसी रूप का है। "इयमशक्तिर्नपुन पाक' इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन्वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठ' परिपाकवान् भवति। तस्माद्रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धन' पाक।"—( काव्यमीमांसा पृ० २० ) 'मुद्रा एवं शैय्या' को भोज ने भी 'शब्दालङ्कार' रूप माना है। किन्तु उनकी 'शय्या' का स्वरूप ( शय्येत्याहु पदार्थानां घटनायां परस्परम् ) भी शुद्ध 'शब्द-सघटना' मात्र है। विद्यानाथ कृत 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में यह तथ्य अधिक स्पष्ट किया गया है—'या पदानां परान्योऽन्यमैत्रीशय्येति कथ्यते।' किन्तु 'पाक' मुद्रा एव शैय्या के समकक्ष होते हुए भी रसानुभावी है, यही वैशिष्ट्य उसे अन्य तत्त्वों से उत्कृष्ट बनाता है। एकावली कार आचार्य विद्याधर ने इसी कारण 'पाक' का जो रूप स्थिर किया उसमें आचार्य वामन तथा अवन्तिसुन्दरी, दोनों के ही मतों का मञ्जुल समन्वय है—'अनवरतमभ्यस्यतामेव कवीनां वाक्यानि पाकमासादयन्ति। पाकस्तुरसोचितशब्दार्थनिबन्धनम्। श्रवणसुधानिस्यन्दिनी पदव्युत्पत्ति' पाक इत्यन्ये। पदानां परिवृत्तिवैमुख्य पाक इत्यपरे [ एकावली पृ० २२, श्री पी० के० त्रिवेदी सम्पादित, बम्बई सस्करण सन् १९०३ ई० ]

पाकसवन्धी तथ्यों का इतना विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने में अपना स्वारस्य केवल यह है कि लक्षणों की रसाभिमुखता स्पष्ट हो जाय। यद्यपि दशपक्षी के कुछ पक्ष रस को शब्दश अपने भीतर स्थान नहीं देते, तथापि सूक्ष्म दृष्ट्या चिन्तन करने पर यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि उनमें से कोई भी रस की मर्यादा से बाहर नहीं। इसके विपरीत, अधिकांश पक्ष प्रत्येक दृष्टि से रसपरिपाक से सम्बद्ध अथवा उनके साधनभूत प्रतीत होते हैं। आचार्य अभिनव ने जब जब लक्षणों की व्याख्या की है तब तब 'रसोत्कर्ष' से उनका सम्बन्ध स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त, लक्षणों के आदिप्रवर्तक भरतमुनि ने स्वय 'यथारस' कह कर उनकी रसवत्ता सिद्ध की है।[५] परवर्ती आचार्यों ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

---

५ अलंकारविवेचन के अन्त में भरत ने पुन लिखा है—'एभिरर्थक्रियापेक्षैः काव्य कुर्यात्तु लक्षणै' ( ना० १६।८७ ) 'अर्थक्रियापेक्ष' का अर्थ अभिनव—'क्रियायां रसचर्वणायां युक्त योग येषां' करके इस पदको 'लक्षणै' का ही विशेषण स्वीकार किया है। भरत का यह प्रमाण लक्षणों की रसवत्ता स्पष्टत' सिद्ध करता है।

किन्तु इतने प्राचीन साक्ष्यों के रहते हुए भी प्रो० भट्टाचार्य का मत है कि—"नव्य अलंकार शास्त्र की सर्वोत्तम वृत्ति व्यंजना से उनका कोई संबंध नहीं है तथा वे विचित्रसंघटना के भाग है जो अभिधा के मुख्य व्यापार से संबंधित है"—"संघटनां विचित्रां कारयमाणा ऽभिधाव्यापारवती ह्युक्ति (युक्ति?) निर्वहण प्रधानधुराधिरोही (व्यपारी) लक्षणाख्य एव" (पूना ओरिएण्टलिस्ट पृ० १७)।

प्रो० भट्टाचार्य का उपर्युक्त मत उनकी अदूरदर्शिता का परिणाम प्रतीत होता है, क्योंकि भरत प्रोक्त ३६ लक्षणों में से अनेक ऐसे हैं, जिनका प्रत्यक्ष या गौण सम्बन्ध व्यञ्जना वृत्ति से है, और व्यञ्जना के रहते किसी भी काव्यांश को रस (भरत) अथवा ध्वनि (आनन्दवर्धन) से दूर हम मान ही नहीं सकते हैं। व्यञ्जना संबन्धी उदाहरण के लिए मनोरथ, प्रोत्साहना, तुल्यतर्क तथा अन्यान्य लक्षणों को हम ले सकते है, जो उनकी रसवत्ता सिद्ध करने में भी पूर्णतः सक्षम हैं। दूसरी बात यह कि 'लक्षण' 'विचित्रसंघटना के अंग' कभी नहीं हैं, वरन् ऐसी संघटना के 'जनयिता' हैं। अंग तो गुण एवं अलंकार हैं, जिसकी विस्तृत व्याख्या पीछे की जा चुकी हैं। यदि यथाकथञ्चित, हम प्रो० भट्टाचार्य का मत स्वीकार भी कर लें तो यह समस्या चिन्त्य ही बनी रहेगी कि क्या 'वस्तु एवं अलंकार' रस निष्पादक नहीं होते? जबकि ध्वनि के त्रैविध्य से (रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि तथा वस्तुध्वनि) हम पूर्णतः अवगत हैं। तीसरी बात यह कि रसों के साथ लक्षणों का प्रतिकूल सम्बन्ध मान कर ही प्रो० भट्टाचार्य ने, अभिनव भारती के उद्धृतांश में 'निर्वाण' पाठ को निरर्थक मान कर, जो 'निर्वहण' पाठ स्वीकार किया है, वह भी उनकी उद्भावना मात्र ही है, क्योंकि 'निर्वाण-प्रधानधुराधिरोही' का प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रख्यात 'काव्यानन्द' से है, जिसे परवर्ती युग में 'ब्राह्मानन्दसहोदर' की उपाधि दी गई। 'निर्वाणप्रधान' का अर्थ है—रसानुभूतिप्रधान। स्पष्ट है कि अपने विशिष्ट दृष्टिकोण की पुष्टिमात्र के लिए भट्टाचार्य जी ने 'निर्वाण' पाठ को निरर्थक सिद्ध किया है। चौथी बात एक प्रबल प्रमाण के रूप में है, जहाँ कि आचार्य भरत स्वयं लक्षणों को रस से सम्बद्ध स्वीकार करते हैं। सोलहवें अध्यायके ८७वें श्लोक (पृ० ३३१) में आचार्य का कथन है—

'एभिरर्थक्रियापेक्षैः काव्यं कुर्यात्तु लक्षणैः अतः परं प्रवक्ष्यामि काव्यदोषान् गुणांस्तथा' यहाँ अभिनव के अनुसार 'क्रियापेक्ष' का तात्पर्य रसचर्वणा से ही है।

संभव है कि अपने इसी दृष्टिकोण को अधिक पुष्ट बनाने के ही लिए विद्वान् आलोचक ने दशपक्षी के प्रथम मत को 'मुद्रा-शैय्या एवं पाक' स्वरूप स्वीकार किया, जिनमें से कि किसी का भी संबंध, सौशब्द्य मात्र होने के कारण, 'रस' से नहीं हैं। किन्तु ये उद्भावनाएँ

सारहीन हैं, जैसा कि प्राय पिछले अनुच्छेदों में स्पष्ट हो चुका है। वस्तुत 'लक्षण' सहजरामणीयकता से परिपूर्ण 'काव्यशरीर' है, जिसका पारमार्थिक यत्न रसानुभूति की ही ओर होता है। डा० प्रभाशचद्र लाहिरी ने अभिनवोद्धृत 'उपाध्याय' पद पर प्रकाश डालते हुए अपने शोधप्रबन्ध की चौदहवी पादटिप्पणी में भट्टतौत को ही प्रसगोपात्त सिद्ध किया है। इस स्थल पर उद्धृत आचार्य तौत का एक सिद्धान्त पूर्णत इस तथ्य को पुष्ट बनाता है कि 'लक्षण' रसानुभूति में परम सहायक हैं। अस्तु यह प्रसंग अब समाप्त हुआ, जिसका सबन्ध वस्तुत अभिनव के व्यक्तिगत दृष्टिकोण से प्रतीत होता है।

लक्षण सबन्धी द्वितीय पक्ष६ मुख्यत नाटकों से सम्बद्ध है। अभिनव गुप्त के प्रामाण्यानुसार इतिवृत्त अथवा कथावस्तु के खण्ड ही सध्यङ्ग, नृत्यङ्ग एव लक्षण, इन तीनों सज्ञाओं से अभिहित होते हैं। इन्हें 'सन्ध्यङ्ग' इस लिये कहा जाता है, क्योंकि इतिवृत्त के प्रारम्भ से लेकर समाप्ति ( निर्वहण पर्यन्त ) तक उनके पृथग्भूत अशो को ये परस्पर सयुक्त करते हैं। इसी प्रकार रस विशेष की अनुभूति कराने में उपयोगी सिद्ध होने के कारण इन्हें नृत्यङ्ग तथा काव्यगत ख्याति एव प्राशस्त्य ( उत्कर्ष ) का विधायक होने के कारण लक्षण भी कहा जाता है। लक्षणों के विषय में यहाँ एक विशेष तथ्य कहा गया है, जिसकी व्याख्या भी डा० राघवन् की उद्भावना के रूप में पहले ही की जा चुकी हैं। इस स्थल पर अभिनव भारती में एक कारिका भी उपन्यस्त की गई है, जिसमें लक्षणों को ही 'बीजार्थक्रम' ( बीज-विन्दु-पताका-प्रकरी एव कार्य रूप पञ्चावस्थाएँ का निर्वाहक तथा फलसिद्धि के ही कारण प्रत्येक सन्धि में स्थित उनको सन्ध्यङ्गता का स्पष्ट निर्देश किया गया है। इस कारिका की दोनों पत्तियाँ भिन्न भिन्न कारिकाओं की हैं, केवल मतपुष्टि के ही लिये उनका युगपदाधान किया गया है। अत डा० राघवन् का उसे एक स्वतत्र कारिका के रूप में प्रतिपादित करना तथा पूर्व-अर्धाली में 'च' के स्थान पर 'चेत्' का निर्देश या तो उनकी अपनी स्वतत्र सूझबूझ है अथवा पाण्डुलिपि का ही परिभ्रष्ट-पाठ है। किन्तु इनमें से कोई भी विकल्प स्वीकार

---

६ अन्ये मन्यन्ते—इतिवृत्तखण्ड [ल] कान्येन सन्ध्यङ्गकानि लक्षणानि इति च व्यपदिश्यते। निमित्तभेदात् पूर्वापरसबन्धेन बीजोपक्षिप्तेऽर्थे निर्वहणपर्यन्ते परस्पर सन्धायकत्वेन सन्ध्यङ्गतया व्यपदेश। रसविशेषोपयोगितया नृत्यङ्गवाचोयुक्ति। काव्यगतख्यातिप्राशस्त्योपयोगितया महापुरुषगतपाशध्वजपादरेखादिवल्लक्षणशब्दवाच्यता। तदुक्त तत्रैव—

लक्षणान्येव बीजार्थक्रमनिर्वाहकानिच। इति
प्रतिसन्धितदङ्गानि फलसिद्ध्युपपत्तित। इति (अभि० भा० पृष्ठ २९५-९६)

करने पर न तो 'चेत्' पद की व्यञ्जना ही स्पष्ट होती है और न तो आलोचक का दृष्टिकोण ही।

सन्ध्यङ्गों तथा वृत्यङ्गों का विधान नाटक में ही होता है। यहाँ एक विशेष तथ्य का निर्देश कर देना आवश्यक है कि 'सन्ध्यन्तर' सन्ध्यङ्गो से सर्वथा भिन्न हैं।७ इसी प्रकार लास्याङ्ग तथा बीथ्यङ्ग भी उनसे पृथक् तत्त्व है।८ परवर्ती नाट्याचार्यों ने इसी कारण पाँच अर्थ प्रकृतियों ( बीज-बिन्दु-पताका-प्रकरी-कार्य ), पाँच अवस्थाओं ( आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागम ), पाँचसन्धियों ( मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्श-निर्वहण ), चौसठ सन्ध्यङ्गो ( उपक्षेप-परिकरादि ), चार वृत्तियों ( भारती-सात्त्वती-कैशिकी-आरभटी ), सोलह वृत्यङ्गों ( नर्मस्फिञ्ज आदि ), इक्कीस सन्ध्यन्तरों ( साम-भेद-प्रदानादि ), दश लास्याङ्गों, तैंतीस नाट्यालङ्कृतियों ( आशीः, आक्रन्द इत्यादि ) तथा तेरह बीथ्यङ्गों का छत्तीसलक्षणों की अपेक्षा सर्वथा स्वतंत्र विवरण प्रस्तुत किया है। लक्षणों को छोड़कर शेष दश उल्लिखित तत्त्वों में से अनेक ऐसे हैं जिनका व्याप्ति क्षेत्र लक्षणों का अतिक्रमण करता है। इतना ही नहीं वरन्, लक्षणों को भी साथ लेकर इनमें से कुछ तत्त्व अलंकारों के क्षेत्र में समाविष्ट हो जाते हैं। इनविषयों का वैशद्य प्रदर्शन यथाप्रसंग आगे करेंगे। एक तथ्य अवधेय है कि उपर्युक्त विवरण अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है, जो कि प्रायः प्रत्येक परवर्ती आचार्य को मान्य है। विस्तारप्रिय आचार्य भोज ने ( शृङ्गार प्रकाश, १२ ) इन नाट्यतत्त्वों की संख्या ( चार वर्गों में विभाजन करके ) सोलह स्वीकार की है, जिनमें से प्रत्येक वर्ग ६४ अंगों से युक्त है। इस प्रकार भोज ने नाटक के लिए कुल २५६ तत्त्वों की अपेक्षा स्वीकार की है—

उदाहृता नाटकनाटिकादौ इयं चतुष्षष्ठिचतुष्टयी या।
रसविरोधन निबन्धनीया कथासु काव्येषु च सा महद्भिः ॥

वस्तुतः भोज द्वारा नाट्यतत्त्वों में पताकास्थानक तथा प्रवृत्तिहेतु आदि की भी परिगणना उनकी विस्तारप्रियता मात्र है। द्वितीय पक्ष का सम्बन्ध, जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है तथा प्रो० भट्टाचार्य ने भी स्वीकार किया है, इतिवृत्त अथवा कथावस्तु मात्र से है। बहिरङ्ग दृष्टि से विचार करने पर ऐसा स्पष्ट प्रतिमान होता है कि इस पक्ष का सारा जोर 'शरीर'

---

७. द्रष्टव्य—सन्ध्यन्तराणामङ्गेषु नान्तर्भावो मतो मम।
सामाद्युपायदक्षेण सन्ध्यादिगुणशोभिना।—रसार्णवसुधाकर ३।९५ (शिङ्गभूपाल कृत)

८. सविस्तर द्रष्टव्य—दशरूपक (४।८४) भावप्रकाशन, अष्टमाधिकार तथा साहित्यदर्पण (६।१७०-७१) जहां उपर्युक्त चारों तत्त्वों को परस्पर भिन्न एवं पूर्णतः स्वतंत्र तत्त्व बताया गया है।

के ( काव्यशरीर ) विभाजन पर ही है। सभव है कि इस मत के प्रतिष्ठापक स्वय आचार्य भरत रहे हों।

तृतीयपक्ष के अनुसार 'लक्षण' या तो 'धीरोदात्तादिगुणों के आधान' ( आहरण ) स्वरूप हैं अथवा 'वस्तुवर्णनाभङ्गि' रूप। स्पष्ट है कि प्रस्तुत पक्ष में दो विकल्प हैं, अत आगे प्रथम एव द्वितीय पक्ष के रूप में इन दोनों की पुष्टि की गई है—( अभि० पृ० २९६ )।

अभिनव गुप्त के व्याख्यान का सङ्केत भी नाटक की ही ओर है। द्वितीय पक्ष से इसका यही वैशिष्ट्य है कि जहाँ उसका सम्बन्ध नाटक के स्वरूपतत्त्व ( सन्ध्यङ्ग ) से है वहाँ तृतीय पक्ष का सबन्ध उसके तटस्थतत्त्वों ( प्रतिपाद्य एव नायक ) से है। किन्तु ये 'तटस्थतत्त्व' ( इतिवृत्त तथा नायक ) भी एक प्रकार से सन्ध्यङ्गों सहित 'सामान्य इतिवृत्त' के ही अग हैं। नाटक के नायक की धीर-ललित-प्रशान्त एव उद्धत प्रभृति अनेक कोटियाँ दशरूपकादि लक्षणग्रन्थों में बताई गई हैं [ द्रष्टव्य-दशरूपक प्रकाश २ ]। इन चतुर्विध नायकों में से प्रत्येक के कुछ विशिष्ट गुण भी निर्दिष्ट किये गए हैं। वस्तुत धीरोदात्तादिगुणाधान का सङ्केत नाटकीय नायक की इन्हीं चतुर्विध कोटियों की ही ओर है। नायक ही 'वर्णनीय' अर्थात् नाट्येतिवृत्त का प्रधानभूत अधिकार-पुरुष है। उसी नायक का धीरोदात्तादि चतुर्धाविभाजन, लक्षणों का स्वरूप है। अतएव इस वाक्य की डा० राघवन् कृत सामुद्रिक लक्षणापेक्षिणी व्याख्या तात्त्विक दृष्टि से उचित नहीं है क्योंकि 'धीरोदात्तादिगुणाधान' में स्पष्टत यह सङ्केत किया गया है कि जिन गुणों की इस मत में चर्चा की जा रही है, वे 'धीरोदात्तादि' ही हैं, पुरुषगत 'सामुद्रिक लक्षणादि' नहीं।

दूसरा विकल्प सुस्पष्ट है क्योंकि 'वस्तुवर्णनाभङ्गि' का पूर्वानुच्छेदों में बाहुल्येन विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। जैसे प्रथम पक्ष का मूल सम्बन्ध इतिवृत्त के नायक मात्र से है, ठीक योंही प्रस्तुत पक्ष का इतिवृत्त मात्र से। 'वर्णनाभङ्गि' का विवेचन तो लक्षणों के स्वरूपविवेचन में भी किया जा चुका है। आचार्य भामह की 'वक्रोक्ति' तथा लक्षणों का 'सघटनावैचित्र्य' ही इस 'वस्तुवर्णनाभङ्गि' के मूल तात्पर्य हैं और इसी कारण प्रो० भट्टाचार्य ने तृतीय मत का समकक्ष तत्त्व मानते हुए आचार्य कुन्तक की 'वक्रोक्ति' को प्रस्तुत किया है।

दशपक्षी का चतुर्थ मत 'कवि' को ही 'काव्यसर्वस्व' रूप में स्वीकार करता है। काव्यरचना में तल्लीन कवि की मनोवैज्ञानिक स्थिति प्रदर्शित करना ही इस मत का लक्ष्य प्रतीत होता है। वस्तुत कवि जब काव्य रचने बैठता है तो उसके क्रियाशील मस्तिष्क में विविधभावतरङ्गें उठने लगती हैं। उस दशा में उसकी कल्पना सम्पत्ति परिसन्दों के रूप में एकैकश प्रकट

तथा प्रयुक्त होती है। इस क्रम में 'प्रथम-परिस्पन्द' का स्वरूप 'सर्वोत्तम' होता है क्योंकि इसमें कवि की 'प्रतिभा' ही आत्मरूप में अवस्थित रहती है। इसी प्रतिभा के बल से वह रसाभिव्यञ्जन कराने में सक्षम, माधुर्यादि गुणों का काव्य में उपनिबन्धन करता है। सामान्य कवि जो केवल व्युत्पत्ति-निष्णात किन्तु प्रतिभाविहीन हैं, वे ऐसा नहीं ही कर सकते। 'द्वितीय-परिस्पन्द' का रूप 'वर्णना व्यापार' से युक्त होता है। इसमें कवि की प्रतिभा गौण रहती है, इसी कारण वह क्षणमात्र के लिए यह विचार करता है कि—अमुक शब्द द्वारा मैं इस वस्तु का वर्णन कर रहा हूँ। अलंकार इसी वर्णनाव्यापार के फलस्वरूप सम्पाद्य होते हैं।

किन्तु इन दोनों व्यापारों ( प्रतिभा एवं वर्णना ) के अतिरिक्त एक 'परिस्पन्द' और होता है, जो समष्टि रूप में 'काव्यशरीर' का विधान करता है। इसमें कवि केवल रसाभिव्यञ्जक गुणों को ही संयोजित करने में व्यग्र नहीं रहता और न ही अलंकारयोजना में। वरन् उसका समस्त अवधान सम्पूर्ण 'कविकर्म' पर रहता है कि—'मैं शब्दों को इन शब्दों से तथा अर्थों को इन अर्थों से संयुक्त करता हूँ'। और ऐसा करने में गुण-अलङ्कार ( शब्दालंकार तथा अर्थालङ्कार ) सब एक ही साथ उस 'कविकर्म' ( काव्य ) में आकृष्ट हो उठते हैं। इस प्रक्रिया का विस्तृतविवेचन 'त्रिविध अभिधाव्यापार' ( जो लक्षण का ही पर्याय है ) के प्रसंग में किया जा चुका है। जहाँ तक 'रस' का प्रश्न है वह भी गुणादि साहचर्य के कारण उस कविव्यापार से दूर नहीं रहता। यही तृतीय परिस्पन्द 'लक्षण' है।

यह लक्षण शब्दार्थ का उपसंस्कार करने वाला ( क्योंकि शब्दार्थगुण तथा शब्दार्थालङ्कार, चारों उसी व्यापार से उद्भूत होते हैं ) तथा क्रिया रूप ( व्यापार रूप ) होता है। श्लेषादि दशगुणों से सम्भाव्य अभिव्यञ्जन व्यापार भी इसी लक्षण का धर्म है क्योंकि गुणों का सम्बन्ध शब्दार्थ से है, और वही शब्दार्थ रूपी काव्यशरीर, लक्षणों का आश्रय है। इतना ही नहीं वरन् शब्दार्थ में स्थित तथा रसपरिपाक की ओर उन्मुख एक 'स्निग्धस्पर्श' भी इन्हीं लक्षणों में विद्यमान रहता है।[१]

वस्तुतः गुण-अलंकार तथा लक्षणों के उपर्युक्त परिस्पन्दात्मक भेद कविव्यापार के ही भेद पर आश्रित हैं, अतः इस त्रिविध-विभाजन का समस्त दायित्व कवि पर ही है।

---

१. काव्येऽप्यस्ति तथा कश्चित्स्निग्धः स्पर्शोऽर्थशब्दयोः यः श्लेषादिगुणव्यक्तिदक्षः स्याल्लक्षणस्थितः॥ इति ( अभि० पृ० २९६ )।

जहाँ तक इस पक्ष के समावित लेखक का प्रश्न है, प्रो० भट्टाचार्य ने आचार्यभट्टतौत को स्वीकार किया है, किन्तु क्यों और किस आधार पर? इसके विषय में भट्टाचार्य जी पूर्णत मौन हैं।

किन्तु ये दोनों ही मत भ्रामक हैं। पहला तो केवल इसलिए कि वह 'आधारहीन' सा प्रतीत होता है। और दूसरा इसलिए कि वह केवल 'शब्दसाम्य' के आधार पर भट्टनायक के नाम मढ़ दिया गया है। वस्तुत 'व्यापार' का अर्थ प्रस्तुत प्रसग में केवल 'कविकर्म' से है, अत वह मीमांसाशास्त्र में स्थित 'व्यापारवाद' से पूर्णत पृथक् है, प्रो० भट्टाचार्य जी का मत, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आधारहीन सा प्रतीत होता है। किन्तु गहराई से विचार करने पर विद्वान् आलोचक की धारणा को स्वीकार किया जा सकता है। चतुर्थ पक्ष के व्याख्यान से इतना तो निश्चित ही हो चुका है कि इसके अनुसार काव्यरचना के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट पद 'कवि' का ही है। पूर्व व्याख्यात तीनों परिस्पन्दों का दायित्व एव श्रेय भी एक मात्र कवि को ही है। वस्तुत कवि ही काव्यससार का प्रजापति है। इसी मत का समर्थन प्रो० भट्टाचार्य जी ने भी किया है जिससे सम्बद्ध उनका मत भी किञ्चित्पूर्व उपन्यस्त किया जा चुका है।

अभिनव भारती में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ व्याख्याकार ने अपने नाट्यगुरु, भट्टतौत का कवि विषयक मत उपस्थित किया है, और वह मत भी निस्सन्देह इसी वैचारिक सत्य की स्थापना करता है कि वाग्वैदग्धी से परिप्लुत जो कुछ भी काव्यरसमाधुरी जगत् में है उसका समस्त श्रेय एकमात्र कवि तथा उसकी 'व्यक्तिगत काव्यशक्ति' ( प्रतिभा ) को ही है। आचार्य तौत ने ही सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ में ( काव्यकौतुक ) यह घोषणा की कि काव्य और कुछ नहीं, प्रत्युत् कवि का कर्म मात्र है ( तस्य कर्म स्मृत काव्यम् )। उन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा अङ्गीकृत मत ( शब्दार्थौ काव्यम् ) को प्रकारान्तर से केवल इसी कारण स्वीकार किया, ताकि कवि का 'माहात्म्य' स्पष्ट हो सके। कवि की व्यक्तिगत सम्पत्ति एव शक्ति के रूप में आचार्य तौत ने ही सर्वप्रथम 'प्रतिभा' की एक स्थायी परिभाषा निश्चित की। वह 'प्रतिभा' जो त्रैकालिकी प्रज्ञा के नवनवोन्मेषों से युक्त होती है। आचार्य तौत के कवि-सम्बन्धी इन्हीं उद्गारों का अनुमोदन परवर्ती युग में चण्डीदास ( काव्य प्र० दीपिका पृ० ७ ) क्षेमेन्द्र ( का० ३५ औचित्यविचार० ), हेमचन्द्र तथा राजानक रुय्यक आदि ( पृ० १२, ११२३ व्यक्ति विवेक व्याख्या ) विद्वानों ने भी किया है।

अत निश्चित है कि प्रो० भट्टाचार्य की मान्यता के पीछे यही व्याख्यान आधार रूप में स्थित है। भले ही उन्होंने इस तथ्य को विशद नहीं किया है, किन्तु हमें इस बात से पूर्णत

सहमत होना चाहिये कि 'कवि एवं कविव्यापार' से ही सम्बद्ध होने के कारण प्रस्तुत मत के व्यवस्थापक आचार्य भट्टतौत ही हैं।

पाँचवाँ पक्ष स्वरूप की दृष्टि से चतुर्थ मत से प्रायः साम्य रखते हुए भी वैशिष्ट्य युक्त है। विवेचन के पूर्व ही यह स्पष्ट कर देना उचित है कि प्रो० भट्टाचार्य की एतद्विषयक मान्यताएँ यथार्थस्पर्शी बिलकुल नहीं हैं। डा० राघवन् ने तो इस मत को अपनी स्वीकृत-दशपक्षी में लिया ही नहीं है। केवल अन्त का एक वाक्य१० उन्होंने अपने चतुर्थपक्ष के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु उसकी व्याख्या भी उन्होंने अपने ढंग से की है। भट्टाचार्य जी ने इस मत का सम्बन्ध काव्य के 'संघटनातत्त्व' अथवा 'कविवाङ्निर्मिति' से स्थापित किया है। किन्तु यदि हम पाँचवें पक्ष का प्रतिपादन करने वाली 'अभिनव भारती' का अध्ययन करें तो स्वतः स्पष्ट हो जाएगा कि कम से कम पाँचवें पक्ष को लक्षणों से दूर समझना अल्पबोध का परिचायक है। ज्ञात तत्त्व को वितण्डा का रूप देना तथा अज्ञात को उपेक्षित कर देना ये दोनों दोष प्राचीन काल से ही आलोचकों में चले आ रहे हैं। आधुनिक आलोचकों को भी हम उस परिधि से बाहर नहीं सिद्ध कर सकते।

पाँचवें पक्ष के अनुसार अभिनेय काव्यबन्ध लक्षणों के कारण ही 'लोकोत्तरहृद्यवर्णन' वाला बन पाता है। उदाहरण के लिए 'मेघदूत' को ही लीजिए। इस प्रबन्ध की रमणीयता का मूल हेतु, गुणों एवं अलंकारों का प्राधान्य होने के कारण 'विभूषण' नामक लक्षण ही है। इसी प्रकार अन्य लक्षणों का भी योग ( काव्यबन्धों से ) समझना चाहिए। काव्यबन्धों से यहाँ स्पष्टतः दशविध रूपकों का अर्थ है क्योंकि—'अभिनेयानां काव्यबन्धानां वक्ष्यमाणस्वरूपं च रूपकं समभिदध्यात्' में 'वक्ष्यमाण' का स्पष्ट सङ्केत नाट्यशास्त्र के १८ वे अध्याय ( ब० सं० ) से है जिसमें 'दशविध नाटकों' का विशेष लक्षण व्याख्यात करते हुए अभिनव ने स्वयं कहा है—'यत्र महासामान्यरूपं काव्यलक्षणेऽध्याये कृतमित्यवान्तर सामान्यलक्षणम् उद्देशानन्तरं वक्तव्यमिति दर्शयति'। अभिनव के इन दोनो प्रमाणों—अर्थात् पाँचवें पक्ष में रूपकों के वक्ष्यमाण स्वरूप को सङ्केतित करना तथा अठारहवें अध्याय ( दशरूपलक्षण ) में काव्यलक्षणाध्याय में रूपकों के सामान्य लक्षण का निर्देश—से ऐसा प्रतिमान होता है कि इन दोनों अभिव्यक्तियों में कुछ आन्तरिक सम्बन्ध अवश्य है। और यदि हम इस अन्तस्सङ्केत को स्वीकार कर लें, तो पाँचवें पक्ष का सिद्धान्त स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

---

१०. तथा हि किञ्चित्प्रबन्धजातं गुणालंकारनिकरप्रधानं यथा मेघदूताख्यं तद्विभूषणम् एवमन्यदपि इति ( पृ० ९ )।

ऐसी दशा में रूपकों के निर्माण करने में अपने सामर्थ्यांधान ( कौशल प्रदर्शन ) के लिए कवि जो 'अभ्यास' करता है, वही लक्षण है। 'अभ्यास' का अर्थ नाटकीय विचार से 'शब्दार्थ एव गुणालङ्कार' की सघटना ही है जिसके फलस्वरूप वह अभिनेयार्थ ( नाट्यकृति ) लोकोत्तर हृद्यवर्णना से सवलित होता है। इस प्रकार घुमा-फिरा कर इन सब का सारार्थ—'त्रिविध अभिधाव्यापार' पर ही केन्द्रित होता हुआ प्रतीत होता है। प्रो० भट्टाचार्य जी इस व्यापार तत्त्व को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु वह व्यापार लक्षणों से व्यतिरिक्त कैसे हैं? यह रहस्य समझ में नहीं आता। क्योंकि 'कविवाङ्निर्मिति' तथा ( त्रिविध अभिधा ) 'व्यापार' दोनों ही तत्त्व लक्षणों के पर्याय हैं जैसा कि पहले सिद्ध कर चुके हैं।

इस पक्ष की एक नवीनता यह है कि इसका सम्बन्ध स्पष्टत अभिनेय काव्यबन्धों ( रूपकों ) से ही है। किन्तु 'अभिनेय' पद स्पष्ट रूप से यहाँ नाटकों की ओर केवल सङ्केत ही करता है, परन्तु उन्हीं के लिए रूढ नहीं है। क्योंकि आगे मेघदूत को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है जो कि किसी भी रूप मे नाटक नहीं कहा जा सकता। अत अभिनेय का तात्पर्य यहाँ *'अभिनय गुणविशिष्ट' श्रव्य अथवा दृश्य काव्य से लेना चाहिए।*

दशपक्षी का छठाँ विकल्प लक्षणों को 'प्रबन्धधर्मों' के रूप में प्रस्तुत करता है—'प्रबन्धधर्मा लक्षणानि' इति केचित् ब्रुवते' ( अभि० पृ० २९६ )। इसी प्रकार सातवाँ पक्ष भी उन्हें 'कवियों का अभिप्राय विशेष' मानता है—'कवेरभिप्रायविशेषो लक्षणम् इति इतरे पुनर्मन्यन्ते' ( अभि० पृ० २९६ )। कालक्रम की दृष्टि से ये दोनो पक्ष लक्षणों की प्राचीनतम् स्थिति के द्योतक हैं। भरत से बहुत पहले जब सर्वप्रथम 'कवियों तथा उनके प्रबन्धों' का साहित्यक्षेत्र में उदय हुआ होगा तभी इन लक्षणों का सिद्धान्त भी 'प्रबन्धधर्म' अथवा 'कवि के अभिप्राय-विशेष' रूप में प्रकट हुआ होगा।

पाँचवें पक्ष की व्याख्या में हम यह देख चुके हैं कि गुण एव अलकार समूह से युक्त 'विभूषण' लक्षण को 'प्रबन्ध' ( मेघदूत ) स्थित माना गया है। डा० राघवन् 'प्रबन्धधर्मा लक्षणानि' को उसी मत से सयुक्त करके अपना 'चतुर्थमत' इस प्रकार स्थिर करते हैं—तथा हि किंचित् प्रबन्धजात गुणालङ्कारनिकरप्रायं यथा मेघदूताख्य तद्विभूषणम्। एवमन्यदपीति प्रबन्धधर्मा लक्षणानि। इस वाक्य में 'अन्यदपि प्रबन्धधर्मा लक्षणानि' की स्पष्ट व्यञ्जना यही है कि जैसे 'विभूषण' को मेघदूत का ( धर्म ) बताया गया उसी प्रकार अन्य प्रबन्धधर्म ( अन्य ३५ लक्षण ) भी लक्षण हैं। उक्त उदाहरण में मेघदूत भी प्रबन्ध ही है, अत यदि हम छत्तीस लक्षणों तथा उनसे उत्पन्न हुए वैशिष्ट्यों को ही प्रबन्ध धर्म तथा लक्षण स्वीकार करे तो कोई अनौचित्य नहीं। वैशिष्ट्यों का स्पष्ट तात्पर्य गुणालकारप्राधान्य ( विभूषण ) श्लिष्टाक्षरां

से विचित्र अर्थ का वर्णन ( अक्षरसंघात ) असिद्धार्थ की सिद्धि ( शोभा ) हृदयस्थभावों की अन्यापदेशों द्वारा अभिव्यक्ति ( मनोरथ ) आदि से है जिन्हें कि स्थान २ पर अभिनवभारतीकार ने स्वयं लक्षणों से अभिन्न सिद्ध किया है। इस दृष्टि से आचार्य भरत के प्रत्येक लक्षण काव्यसंबन्धी किसी न किसी वैशिष्ट्य से अवश्य संयुक्त हैं जैसा कि ऊपर 'स्थालीपुलाकन्यायेन' सुस्पष्ट किया जा चुका है।

उपर्युक्त विवरण से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि 'त्रिविध अभिधाव्यापार' भी इसी क्षेत्र में रहेगा। क्योंकि वह स्वयं प्रबन्धरूप है, गुण-अलङ्कार तथा अन्य विचित्रसंघटनाएँ सब उसी से प्रसूत होती हैं। जहाँ तक इस पक्ष के व्यवस्थापक आचार्य का प्रश्न है हम आचार्य भरत को ही स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि पूर्वव्याख्यानानुसार प्रबन्धधर्मरूप ३६ लक्षण एवं उनमें व्यवस्थित विशिष्टतत्त्व ही 'लक्षण' हैं और आचार्य भरतने ही सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की स्थापना की थी—'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः' (अभि० पृ० २९२) तथा—'षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं काव्यबन्धेषु निर्दिशेत्' ( षोडशाध्यायानुबन्ध, अभि० पृ० ३५० )। चूँकि आचार्य भरत ही ज्ञात आचार्यों में प्राचीनतम् हैं जिन्हें प्रथम लक्षणोपदेष्टा के रूप में स्वीकार किया जा रहा है, तथापि इस तथ्य की संभावना तो है ही कि—उनके पूर्व भी किसी आचार्य ने 'लक्षणसिद्धान्त' का प्रतिपादन किया हो, जैसा कि डा० देशपाण्डे ने निरुक्त एवं पूर्वमीमांसा में स्थित उपमा एवं उपमान का विवरण प्रस्तुत करते हुए इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि इन्हें मीमांसा में लक्षण ही कहा गया है ( द्रष्टव्य० भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रथमाध्याय पृ० ४७ )।

सातवें पक्ष में कवि के 'अभिप्रायविशेष' का अर्थ क्या है? इस पर थोड़ी व्याख्या अपेक्षित है। डा० राघवन् इस मत के निराकरण में अपने को असमर्थ घोषित करते हैं[11] और प्रो० भट्टाचार्य जी उसे काव्य में कवि द्वारा प्रतिपादित 'कथन या भाव विशेष' मानते हुए आचार्य भामह एवं दण्डी को उनके ज्ञाता-रूप में प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इस विषय में कुछ आपत्तियाँ इस प्रकार हैं—(क) जहाँ तक 'अभिप्राय' को 'काव्य में प्रतिपादित कवि का स्वारस्यविशेष' मानने का प्रश्न है वह तो ठीक ही है, किन्तु उनके दृष्टान्त अथवा साम्य रूप में भामह तथा दण्डी के अभिप्रायों की उद्धरणी देना ठीक नहीं क्योंकि दोनों में विशेष अन्तर है।

'कथा एवं आख्यायिका' के निराकरण प्रसंग में आचार्य भामह ने आख्यायिका का वैशिष्ट्य

---

११. सम कंसेप्ट्स अव् अलंकारशास्त्र, १९४२ पृ० १०।

बनाते हुए कहा है—'कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता' ( काव्या० १।२७ )। इस विवरण में 'अभिप्राय से अङ्कित होने' का एकमात्र तात्पर्य है—'रचना में कवि द्वारा अपना कुछ व्यक्तिगत सङ्केत देना'। इसी को परवर्ती आलोचकों एवं आचार्यों ने—मुद्रा' ( अलंकार ) 'अङ्क' अथवा 'कविमाहसाङ्क' नाम भी दिया है। उदा० भारवि द्वारा 'किरातार्जुनीय' के प्रत्येक सर्गान्तपद्य में 'लक्ष्मी' तथा माघकवि द्वारा 'शिशुपालवध' के प्रत्येक सर्गान्तपद्य में 'श्री' शब्द का प्रयोग। 'नीलकण्ठविजय'में इसी प्रकार सर्वत्र 'नीलकण्ठमखिनिहितकारुण्य' तथा नलचम्पू में 'हरचरणसरोज द्वन्द्वमौलि' पद का प्रयोग। यही कवि का अभिप्रायकृत कथन है, आख्यायिका में इसका सद्भाव भामहाचार्य के अनुसार अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य हेमचन्द्र (काव्यानुशासन पृ० ४५८) प्रबन्धगत अलङ्कारों का व्याख्यान करते हुए इन तत्त्वों की गणना 'शब्दवैचित्र' में करते हैं। उनके अनुसार ये अभिप्राय पाँच प्रकार के हैं—स्वाभिप्रायाङ्कता, स्वनामाङ्कता, इष्टनामाङ्कता, मङ्गलाङ्कता तथा आशसाङ्कता। इसमें से अन्तिम का सम्बन्ध प्राय नाटक से ही होता है क्योंकि वही भरतवाक्य कहा जाता है।

किन्तु आचार्य दण्डी ने भामह के इस सङ्कीर्ण मतका विरोध करते हुए कहा कि 'कवि भावकृत ये चिह्न' कथा में भी प्रयुक्त किये जाने पर सदोष न होंगे अथात् कथा में भी इनका प्रयोग आवश्यक है ( कविभावकृत चिह्नमन्यत्रापिन दुष्यति—काव्यादर्श १।३० )। इस प्रकार भामह का 'कवि अभिप्रायकृतकथन' तथा दण्डी का 'कविभावकृतचिह्न' दोनो एक ही तत्त्व हैं जिन्हें कि 'अङ्क साहसाङ्क तथा मुद्रा' भी कहा गया है। 'मुद्रा' का अर्थ है, कवि द्वारा प्रारम्भ में ( अथवा कहीं भी ) ऐसी शब्दावली का प्रयोग जिससे समस्त प्रतिपाद्य संकेतित हो उठे। उदा० शाकुन्तल की नान्दी ( या सृष्टिः स्रष्टुराद्या आदि ) में ये द्वे काल' द्वारा शकुन्तला की दोनों सखियों तथा 'याम् सर्वबीजप्रकृति' द्वारा शकुन्तला आदि की ओर सङ्केत।

अत अभिप्राय सबन्धी इस व्याख्यान से यह स्पष्ट है कि जिन अभिप्रायों को लक्षण की मान्यता आचार्य अभिनव ने दी है वे इतने सङ्कीर्ण एव विशिष्ट नहीं हैं जितने कि आचार्य भामह एव दण्डी के हैं और जिनका क्षेत्र 'केवल कथा एव आख्यायिका' मात्र हैं। वस्तुत लक्षणों द्वारा इङ्गित अभिप्राय कुछ 'व्यापी तत्त्व' हैं जिनका स्पष्टीकरण आगे होगा।

(ख) दूसरी आपत्ति यह है कि पूर्वोद्धृत भामह के मत को प्रो० भट्टाचार्य गलत रूप में उद्धृत करते हैं—'कवेरभिप्रायकृतैः लक्षणैः कैश्चिदङ्किता' ( काव्या० १।२७ ) जबकि पाठ वस्तुत 'कथनैः कैश्चिदङ्किता' का है। अत निश्चित है कि 'लक्षण' शब्द का आदान विद्वान् आलोचक ने या तो पाठभेदवश ( और यदि ऐसा पाठभेद है तो गलत, अनुचित एव असगत है क्योंकि यह स्पष्ट तथ्य है कि भामह ने अपने ग्रन्थ में कहीं भी शब्दश लक्षणों

को इङ्गित नहीं किया है। दण्डी ने सर्वप्रथम काव्या० २।३६५ में लक्षणोल्लेख किया) या फिर लक्षणों से प्रत्यक्ष-संगति बैठाने की दृष्टि से स्वार्थवश किया हो।

वस्तुतः लक्षणों के क्षेत्र में इङ्गित किये गए अभिप्राय वे हैं जिनकी चर्चा यास्काचार्य कृत निरुक्त (७।१३) तथा जैमिनीयपूर्वमीमांसा (अध्याय २, पाद-१) पर लिखित शाबरभाष्य में उद्धृत पूर्वाचार्यों की लक्षणकारिकाओं में आई है। निरुक्त में इन्हें 'अभिप्राय' (एवमुच्चावचैः अभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति) तथा शाबरभाष्य में स्पष्टतः 'लक्षण' (एतत्स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्—तन्त्रवार्तिक, ब्राह्मणलक्षणाधिकरण) कहा गया है। ये लक्षण अथवा अभिप्राय प्रायः भरत प्रोक्त ३६ लक्षणों के समान हैं, संज्ञा भी दोनों में एक सी ही है।१२ ऐसी दशा में संभव है कि प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य भट्टनायक ने लक्षण संबन्धी इस सिद्धान्त की स्थापना की हो। इन अभिप्रायों का अर्थ 'वैदिक मंत्रों के स्वरूप' से है।

आठवाँ पक्ष स्पष्टतः 'औचित्य-सम्प्रदाय' से सम्बद्ध प्रतीत होता है—'केचित् यथास्थानविशेषं, यद्गुणालंकारायोजनं तल्लक्षणमिति' (अभि० पृ० २९६)। जहाँ तक गुणालंकार-योजना का प्रश्न है वह अन्य पक्षों में भी अंशतः प्राप्त होती है, किन्तु इस पक्ष की सारी नवीनता 'यथास्थानविशेषं' से ही है। साहित्य शास्त्र में यह सिद्धान्त सर्वमान्य एवं प्रख्यात बन चुका है कि जब तक गुणालंकारों का संयोजन उचित रूप से न होगा तब तक 'रसनिष्पत्ति' असंभव ही है। शृङ्गार रस के प्रसंग में यदि हम श्लेष एवं यमकादि का निबन्धन करें अथवा ओजोगुणनिष्ठ पदावली का प्रयोग करें तो वह रसानुभूति में सहायक न बन कर प्रतिरोध पैदा कर सकती है। इसी कारण ध्वन्यालोककार ने समसामयिक कवियों को सचेत कर दिया था कि—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादि निबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥—ध्वन्या० २।१५

किन्तु यदि उसी शृङ्गार रस में रूपकादि अलङ्कारों का यथोचित निबन्धन किया जाय तो औचित्य के कारण वह रस परिपाक में सहायक होगा ऐसा ध्वनिकार ने ही आगे स्वीकार किया है—ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्॥ ध्वन्या० २।१७। यहाँ समीक्ष्य का तात्पर्य औचित्य से ही है। आचार्य आनन्दवर्धन ने समस्त ग्रन्थ में भूरिशः इस औचित्यतत्त्व की स्थापना की है।१३ वस्तुतः इसकी प्रेरणा उन्हें

---

१२. सविस्तर द्रष्टव्य—पृष्ठ ४४ से ४८ तक। डा० देशपाण्डे कृत 'भारतीय साहित्यशास्त्र'।

१३. द्रष्टव्य ध्वन्यालोक तृतीयोद्योत की छठीं, नवीं, तेरहवीं, उन्नीसवीं, बत्तीसवीं, तैंतीसवीं कारिकाएँ।

अपने पूर्वाचार्यों से ही मिली थी, जो कि स्वय औचित्यतत्त्व को बहुत महत्त्व देते थे। अत आचार्य आनन्दवर्धन की स्पष्ट धारणा थी कि—'अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का और कोई भी अन्य कारण नहीं'।१४ इसी प्रकार भामह का भी सर्वाधिक आग्रह निर्दोष काव्यरचना के प्रति ही था जिसके अन्तराल में 'औचित्य' मत का ही भाव छिपा हुआ है।१५ आचार्य दण्डी ने भी 'औचित्य' पर जोर दिया है। दोषों का उपसंहार करते हुए काव्यादर्श (३।१७९) में उन्होंने कहा—

विरोध सकलो ऽप्येष कदाचित्कविकौशलात्।
उत्क्रम्यदोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥

यहाँ 'कविकौशल' की व्यञ्जना 'कवि द्वारा औचित्यनिबन्धन' से ही है ऐसा हमें स्वीकार करना चाहिए।

इस प्रकार 'औचित्य-निबन्धन' की यह परम्परा भामह से ही प्रारम्भ हुई तथा दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन आदि आचार्यों द्वारा परिपुष्ट होती हुई आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा अन्त में 'काव्यात्मपद' प्राप्त कर सकी।१६ 'औचित्यविचारचर्चा' में लेखक ने इस मत का सुदृढ सस्थापन करते हुए सत्ताइस प्रकार के औचित्यो का निराकरण किया है। किन्तु चूँकि अभिनव गुप्त के पूर्ववर्ती, औचित्य मत के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ही हैं, अत उन्हीं को हम इस मत की व्यवस्था का श्रेय दे सकते हैं। एक तथ्य जैसा कि प्रो० भट्टाचार्य एव डा० राघवन् ने भी स्वीकार किया है, अवधेय है, वह यह कि औचित्यमत का निबन्धन सर्वत्र 'रसपरिपाक' की ही दृष्टि से किया गया है। क्षेमेन्द्र ने 'रससिद्धकाव्य' कह कर तथा भामहाचार्य ने बहुत पहले 'निर्दोषता' का निर्देश करके इस तथ्य को स्पष्ट किया। आचार्य आनन्दवर्धन भी 'रसध्वनि' की ही दृष्टि से औचित्य मत को अपेक्षित महत्त्व देते हैं—वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजन रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्य महाकवे ॥ ध्वन्या० ३।३२।

नवे पद्य मे लक्षणों का वह स्वरूप प्रतिपादित किया गया है जिसे स्वय अभिनव ने लक्षण व्याख्यान में आद्यन्त स्वीकार किया है। इसी कारण आचार्य अभिनव को ही इस पक्ष का

---

१४ 'अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्' ध्वन्यालोक उ० ३।

१५. नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा कुकवित्व पुनस्साक्षात् मृतिमाहुर्मनीषिण ॥१।१२ (काव्या०)।

१६. अलङ्कारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणा सदा औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम् ॥ (औचित्य० श्लो० १५)।

का प्रवर्तक आचार्य स्वीकार करना चाहिये। अभिनव द्वारा प्रोक्त 'त्रिविध अभिधाव्यापार' के व्याख्यान में इस तथ्य को स्पष्ट किया जा चुका है कि लक्षण 'स्वाभाविक सौन्दर्य युक्त काव्यशरीर' है। काव्यों में जो निसर्गसुन्दर-अभिनयविशेष होता है उस नैसर्गिक सौंदर्य का कारणभूत धर्म ही लक्षण है। अलङ्कार रहें या न रहें, किन्तु उनके न रहने पर भी जो धर्म काव्य में एक[१७] सहज रमणीयता उत्पन्न करे वही लक्षण है। किन्तु 'लक्षणों से संवलित होने पर कोई भी अभिव्यक्ति एक 'विशिष्ट काव्यशरीर' का रूप धारण कर लेती है' यह तथ्य भी हमें समझ लेना चाहिए। अर्थात् लक्षणों के साहचर्यवश काव्य में कुछ न कुछ विशेषता अवश्य आ जाती है जैसा कि छठें पक्ष की व्याख्या में ही इसे सोदाहरण स्पष्ट किया जा चुका है। इतना ही नहीं वरन् ये लक्षण, 'भेदक' तत्त्व भी कहे जाते हैं क्योंकि भरत प्रोक्त केवल तीन अलङ्कारों— 'उपमा दीपक एवं रूपक' को अनन्तरूप देना इन लक्षणों का ही कार्य है।[१८] यह तथ्य भी आचार्य अभिनव ने स्वयं 'अनुवृत्ति' लक्षण के व्याख्यान में शब्दशः स्वीकार किया है— "तत्तेनोपमानशरीरस्योपमेयशरीरस्यथवा वैचित्र्यं लक्षणानामेव व्यापारः, इत्येवमुपमारूपकदीपकानां त्रयाणामलङ्कारत्वेन वक्ष्यमाणानां प्रत्येकं षट्त्रिंशल्लक्षणयोगात् लक्षणानामपि चे (चै) कद्वित्र्याद्यवान्तरविभागभेदादानन्त्यं केन गणयितुं शक्यम्, इदानीं शतसहस्राणि वचित्र्याणि सहृदयैरुत्प्रेक्ष्यन्ताम्" (अभि० पृ० ३१७)। अपने इस मत की पुष्टि करने के लिए अभिनव ने परिदेवन लक्षण के प्रसंग में अपने उपाध्याय (भट्टतौत) का मत भी प्रस्तुत किया है (पृ० ३२१) जिसे कि यथा प्रसंग आगे निरूपित किया जायेगा।

इस प्रकार जब लक्षणों को 'वैचित्र्यवर्धन' का कारण स्वीकार कर लिया गया तो यह तथ्य 'स्वयमेव प्रतिष्ठित एवं सिद्ध ही हो जाता है कि 'शब्द एवं अर्थ' की पारस्परिक संघटना से उत्पन्न (चतुर्विध गुणालङ्कार रूप) चित्रता ही लक्षण है।[१९] इन विवरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते कि नवाँ पक्ष पूर्णतः 'त्रिविध अभिधाव्यापार' के अंगो से ही सम्बद्ध है और यही 'व्यापार' कल्पना लक्षणों के सिद्धान्त क्षेत्र में अभिनव गुप्त की अपनी मौलिक देन

---

१७. "परे स्वभाषन्त-अलङ्कारादिनिरपेक्षेणैव निसर्गसुन्दरो योभिनयविशेषः काव्येषु दृश्यते, अमरुकश्लोकेष्वपि तत्सौन्दर्यहेतुर्यो धर्मः सलक्षणः, स एव चार्थः काव्यशरीरविशेषरूपो लक्षणम्" (अभि० पृ० २९७)।

१८. उपमादीपकरूपकाणामानन्त्याद् भेदमाहुः (नवम पक्ष का ही अंश, द्रष्टव्य—अभि० पृ० २९७)।

१९. (तु) शब्देन अर्थेन चित्रत्वं लक्षणमिति (नवम पक्ष का ही अंश, द्रष्टव्य—अभि० पृ० २९७)।

है। डा० राघवन् ने इस पक्ष को तीन भागों में कल्पित करके उनकी व्याख्या, 'दशपक्षी' के तीन स्वतन्त्र पक्षों के रूप में किया है, संभव है ऐसी कल्पना 'मद्रासपाण्डुलिपि' के ही कारण की गई हो। इस पक्ष के व्यवस्थापकत्व के बारे में पूर्ववर्ती समस्त आलोचक मौन रहे हैं, किन्तु जैसा कि उपर युक्तियों-सहित इसका समाधान प्रस्तुत किया है, आचार्य अभिनव ही इस मत के प्रतिष्ठापक प्रतीत होते हैं।

दशम पक्ष का सिद्धान्त तुलनात्मक दृष्टिकोण से सर्वाधिक सरल एवं बोधगम्य है। इसका मूल कारण इस पक्ष का मर्यादित एवं स्थूल होना है। अभिनव भारती के प्रामाण्यानुसार —"इतरेषां तु मत यथा तन्त्रप्रसङ्गबाधातिदेशादि मीमांसाप्रसिद्ध वाक्यविशेषव्यवच्छेदलक्षण तथा काव्यविशेषव्यवच्छेदक भूषणादिलक्षणजातम इति स्वय पक्षो द्वितीयपक्षान्न भिद्यते"।

अर्थात् जैसे मीमांसा शास्त्र में तन्त्र प्रसङ्ग-बाधा एवं अतिदेश इत्यादि 'वाक्यविशेष' हैं, ठीक उसी प्रकार काव्य में भी भूषण अक्षरसंघात आदि 'तत्त्वविशेष' हैं। इस निर्देश से स्पष्ट हो जाता है कि इतिवृत्त (अथवा काव्यशरीर) का विभाजन ही इस मत का लक्ष्य है। इसी कारण अभिनवगुप्त स्वय कहते हैं कि—दशम पक्ष, द्वितीय से भिन्न नहीं है क्योंकि द्वितीय पक्ष में भी लक्षणों को इतिवृत्तखण्डलक' को ही (सन्ध्यङ्गक) लक्षण कहा गया है।

मीमांसा' के विषय में कुछ ज्ञातव्यतथ्य 'अभिप्राय' (सप्तमपक्ष) शब्द की व्याख्या में उपस्थित किये गए हैं। ये उच्चावच अभिप्राय वस्तुत वेदमन्त्रों के स्वरूप हैं जिसमें आशी, स्तुति, सख्या, प्रलपित एवं परिदेवनादि भावों का निबन्धन किया गया है। नाट्यशास्त्र के भी लक्षण बहुत कुछ इसी प्रकार के भावों का उपस्थापन करते हैं। प्रसङ्ग-बाधादि भी इसी प्रकार मीमांसा शास्त्र के अङ्गभूत तत्त्व हैं जिससे 'लक्षणों' का साम्य है। अत निश्चित है कि इस मत का व्यवस्थापक आचार्य परम साहित्यरसिक, किन्तु साथ ही साथ विदग्ध-मीमांसक रहा होगा। डा० राघवन् भट्टनायक को इस रूप में स्वीकार करते हैं जिसके विषय में कोई आपत्ति समझ नहीं प्रतीत होती।

इस प्रकार 'दशपक्षी' के विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि अभिनव के पूर्व ही लक्षणों के स्वरूप निर्धारण में अनेक आपत्तियाँ उत्पन्न हो चुकी थी जिनमें से दश का सांकेतिक विवरण आचार्य ने प्रस्तुत किया है। सम्भव है कि और भी एकाध पक्ष रहे हों, जिन्हें अभिनव न जान सके हों। किन्तु पूर्वपरम्परा के अनुसार यह स्पष्ट है कि 'कवियों के अभिप्रायों अथवा प्रबन्धधर्मों के रूप में लक्षण' भरत से भी पूर्व अत्यन्त प्राचीनयुग में प्रादुर्भूत हुए। मीमांसा एवं निरुक्त में उन्हें स्थायित्व मिला और ईसा पूर्व द्वितीय शती में ये एक प्रख्यात 'काव्यतत्त्व' के रूप में आचार्य भरत द्वारा प्रतिष्ठित हुए। उनका एक सुदृढ़ किन्तु अपरिस्फुट सिद्धान्त

भरत ने स्थापित करके उनके ३६ प्रकारों का निर्देश किया। आचार्य भरत के पश्चात् ( द्वितीय, पञ्चम एवं षष्ठपक्ष ) दण्डी, आनन्दवर्धन ( आठवाँ : औचित्यपक्ष ), कुन्तक ( तीसरा : वस्तुवर्णनाभङ्गि पक्ष ), भट्टनायक ( सप्तम एवं दशम : अभिप्राय तथा तंत्रबाधादि संबन्धी पक्ष ), भट्टतौत ( चतुर्थ : कविव्यापार पक्ष ) तथा अन्त में अभिनवगुप्त ( प्रथम एवं नवम : त्रिविध अभिधाव्यापार पक्ष ) ने स्वयं लक्षण संबंधी मान्यताओं की परम्परा को उज्जीवित किया। चूँकि लक्षणों के सिद्धान्त भामह एवं दण्डी के ही युग में अपने मौलिक रूप से स्थिर न रह सके, अतएव परवर्ती युग में इनका प्रचलन प्रकारान्तर से ही होता रहा। दशपक्षी के व्याख्यान में प्रायः इस तथ्य को स्थान स्थान पर स्पष्ट किया गया है।

आचार्य अभिनव के पश्चात् लक्षणों पर स्वतन्त्र रूप से अथवा गौण रूप से ( प्रसंगत ) विचार-विमर्श करनेवाले अनेक आचार्य, कवि एवं टीकाकार हुए जिनका संक्षिप्त विवरण यहाँ डा० राघवन् कृत शोधनिबन्ध के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।[२०] अभिनव के समकालिक विद्वानों में राजाभोज ( शृङ्गार प्रकाश में ६४ लक्षणों की व्याख्या ) तथा उनके ही राजकवि धनञ्जय ( दशरूपक ४।८३-८४ में भूषणों का अलंकारों में अन्तर्भाव-सूचन ) आते हैं। इसके पश्चात् शारदातनय ( भावप्रकाशन अष्टमाधिकार में 'भूषण' नाम से ५४ लक्षणों की व्याख्या ) जयदेवपीयूषवर्ष, ( चन्द्रालोक : तृतीयमयूख में स्वतंत्र रूप से दशलक्षणों का विवेचन ) शिङ्गभूपाल, ( रसार्णवसुधाकर, तृतीयविलास, 'भूषण' नाम से ३६ लक्षणों की व्याख्या ) विश्वनाथ, ( साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद में ३६ लक्षणों का विवेचन ) राघवभट्ट, ( शाकुन्तलटीका में कुल चौदह लक्षणों का व्याख्यान ) जगद्धर, ( मालती० टीका में ६ लक्षणों का विवेचन ) रुचिपति, ( अनर्घराघव टीका में दो लक्षणों का नाट्यालंकार के नाम से विवेचन ) राजानक अलक, ( रत्नाकर कृत हरविजय टीका, २१।७ में काव्यव्यवस्थापक के रूप में ३६ लक्षणों का उद्देशमात्र ) बहुरूप मिश्र, ( दशरूप टीका में नाट्यालंकार एवं लक्षण विवेचन ) कुम्भकर्ण, ( स्वकृत सङ्गीतराज में लक्षणविवेचन ) सर्वेश्वर, ( साहित्यसार, तृतीय प्रकाश में ३६ लक्षण विवेचन ) अच्युतराय ( साहित्यसार सप्तम परिच्छेद के अंत में १८ लक्षणों की व्याख्या ) आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में लक्षण-सिद्धान्त का संवर्धन किया।[२१]

---

२०. सविस्तर द्रष्टव्य—डा० राघवन् कृत ग्रन्थ, सम कंसेप्टस अव अलङ्कारशास्त्र पृ० २५-३९।

२१. प्रो० भट्टाचार्य ने अपने शोधनिबन्ध में आचार्य मातृगुप्त, महाकवि श्रीहर्ष, सागरनन्दिन्, कवि कर्णपूर तथा चन्द्रालोक की 'शरदागम' नाम्नी टीका के प्रणेता श्री प्रद्योतन भट्ट को भी—लक्षण सिद्धान्त के व्याख्याता रूप में स्वीकार किया है।

लक्षणों का पूर्वव्याख्यात रूप देखते हुए, सरलतापूर्वक उनकी अलङ्कार सहधर्मिता एवं रसाभिमुखता पर विश्वास किया जा सकता है। इन्हीं लक्षणों के अन्तराल से समस्त अलङ्कारों की उत्पत्ति हुई है। अप्रस्तुतप्रशंसा प्रभृति अनेक अलङ्कृतियों की लक्षणमूलता का तो हमें सुस्पष्ट प्रमाण भी मिलता है क्योंकि स्वयं लक्षणकार आचार्य भरत ने 'मनोरथ' के रूप में उसकी स्थापना की है तथा परवर्ती युग में अभिनवगुप्त एवं उनके नाट्यगुरु आचार्य भट्टतौत ने दोनों की समता का निर्देश करते हुए, उनके 'बीजांकुर सम्बन्ध' की पुष्टि भी की है।[२२]

२२. द्र० नाट्यशास्त्र, षोडशाध्याय की अभिनवभारती।

# थेरवाद और विभज्जवाद : बौद्धधम के दो सांप्रदायिक नामों का एक अध्ययन

चन्द्रशेखर प्रसाद

थेरवाद और विभज्जवाद एक ही बौद्ध सम्प्रदाय के दो नाम हैं। इस सम्प्रदाय का प्रचार लंका, बर्मा, स्याम आदि दक्षिण-पूर्वी ऐशियाई देशों में हुआ और सम्प्रति वहाँ राजकीय धर्म बना हुआ है। इसकी भौगोलिक सीमा को ध्यान में रखते हुए इसे दक्षिणी बौद्ध-परम्परा भी कही जाती है। इसका साहित्य पालि में है। पालि वंस-साहित्य में आये उल्लेखों के अनुसार बुद्धमहापरिनिर्वाण के दूसरे शतक के प्रारम्भ में हुई द्वितीय संगीति में महासांघिकों के संघ से वहिष्कृत किये जाने पर संघ के शेष भाग के लिये परम्परागत थेरवाद नाम ही सुरक्षित रखा गया; तथा तीसरे शतक के प्रारम्भ में हुई तृतीय संगीति[१] के समय इसे विभज्जवाद नाम दिया गया। लेकिन अपने साधारण अर्थ में ये नाम इस प्रकार के हैं कि इनका प्रयोग अन्य तात्कालिक बौद्ध सम्प्रदायों को संबोधित करने के लिये भी किया जा सकता है। पालि में इनके प्रयोग के जो औचित्य और अर्थ दिये गये हैं, वे आत्मश्लाघा की साम्प्रदायिक भावनाओं से इस प्रकार रंजित हैं कि यह कहना कठिन हो गया है कि किस विशेष अर्थ में ये केवल इस सम्प्रदाय ही को सम्बोधित करते हैं। अतः यहाँ यह आवश्यक हो जाता है कि उत्तरी बौद्ध-परम्परा में आये तत्सम्बन्धी उल्लेखों का पालि के साथ तुलनात्मक अध्ययन करके इनके प्रयोग के औचित्य और विशेषार्थ को प्रकाश में लाया जाय। प्रस्तुत निबन्ध इसी बात को ध्यान में रख कर लिखा गया है।

**थेरवाद**—बौद्ध सम्प्रदायों के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में अनिराकरणीय भिन्नताओं के रहते हुए भी सभी सूत्रों में इस विषय पर सहमति है कि बुद्ध के दूसरे शतक के प्रथमार्द्ध में संघ में मतभेद उत्पन्न हो गया। विनय एवं वंस-साहित्य के अनुसार इस मतभेद का कारण

---

१. यह थेरवादियों की संगीति थी जिसे उन्होंने अपने साम्प्रदायिक उद्देश्य से बुलाया था। विशिष्ट रूप से साम्प्रदायिक घटना होने के कारण अन्य सम्प्रदायों की इनके प्रति उपेक्षा होनी स्वाभाविक ही है। पालि को छोड़ अन्य सूत्रों में इसका उल्लेख नहीं मिलना इसकी ऐतिहासिकता को सर्वथा असिद्ध नहीं करता है। अधिकांश विद्वान् इसे ऐतिहासिक साम्प्रदायिक घटना के रुप में मान्यता देते हैं, द्रष्टव्य—इम्पिरियल यूनिटि (बम्बई, १९१०) पृ० ३८३; द एज आव द नन्दाज ऐन्ड मौर्याज (बनारस, १९५२) पृ० ३०१, ३०२; आर० के० मुखर्जी : अशोक (दिल्ली, १९६२) पृ० ३६।

वैशाली के वज्जी भिक्षुओं द्वारा विनय विरोधी दस नये नियमों ( दसवत्थूनि )२ का प्रतिपादन करना था। इन वैशाली भिक्षुओं के लिये इस प्रकार का उल्लंघन तात्कालिक स्थानीय परिस्थितियों से प्रेरित३ और बुद्ध द्वारा भिक्षुओं को दिये गये छोटे छोटे नियमों को छोड़ सकने के आदेश४ के अनुरूप ही था, लेकिन रूढ़िवादी भिक्षुओं ने इनका विरोध किया और वैशाली की द्वितीय संगीति में इन्हें सम्मिलित रूप से अवैध करार दिया। वज्जी भिक्षुओं ने इस निर्णय को मानने से इन्कार किया, जिसके फलस्वरूप संघ थेरवाद और महासांघिक नाम से दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। थेरवादी रूढ़िवादी एवं कट्टरपंथी थे तथा महासांघिक प्रगतिशीलों और उदारपंथियों का प्रतिनिधित्व करते थे।५

विभाजन के शीघ्र ही बाद वज्जी भिक्षुओं ने एक अलग संगीति बुलायी। चूँकि इस संगीति में भाग लेने वालों की संख्या वैशाली संगीति के भिक्षुओं से अधिक थी और साथ ही इसमें गृहस्थों को भी स्थान दिया गया था, इसलिये इस संगीति को 'महा' की संज्ञा दी गयी तथा इस 'महासंगीति' के नाम पर सम्प्रदाय को महासांघिक कहा गया।६ रूढ़िवादी भिक्षुओं ने अपने सम्प्रदाय के लिये अविभाजित संघ के नाम को ही सुरक्षित कर लिया। विभाजन के पूर्व संघ को 'थेरवाद' कहा जाता था।७ महाबोधिवंस ( पृ० ९५ ) में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—'थेरान सम्बन्धवचनना थेरवादो 'ति'। अविभाजित संघ को थेरवाद इसलिये कहा जाता था कि महाकस्सपादि महाथेरों ने राजगृह की प्रथम संगीति में धम्मविनय

---

२ सिंग में नमक भरकर साथ रखना, मध्याह्न से दो अंगुल छाया उतर आने पर भी खाना आदि आदि, द्रष्टव्य—देवनागरी चुल्लवग्ग, पृ० ४१६।

३. जी० सी० पाण्डे द ओरिजिन आव बुद्धिज्म ( इलाहाबाद, १९५७ ) पृ० ५६०, एन० दत्त अरली मोनास्टिक बुद्धिज्म-२ ( कलकत्ता, १९६० ) पृ० २६, इ० जे० थोमस : बुद्धिस्ट थाट ( न्यूयार्क, १९५१ ) पृ० ३९, गायगर महावंस-अनुवाद का प्राक्कथन ( लण्डन, १९१२ ) पृ० ५५।

४ देव० दीघनिकाय-२, पृ० ११८।

५ एन दत्त अरली हिस्टरि आव द स्प्रेड आव बुद्धिज्म ( लण्डन ) पृ० २२५।

६ महावंस ५ ३४, बील ट्रैवल आव ह्वेन-त्सांग का अनुवाद-२ ( कलकत्ता, १९५८ ) पृ० १६,१६४।

७ महावंस ५ २—एकोव थेरवादो सो आदिवस्स सते आहु, दीपवंस ५, १६—महाभेदो अजायित्थ थेरवादान उत्तमो।

का संकलन और संगायन करके इसकी रूपरेखा को निर्धारित किया था।८ रूढ़िवादियों ने अपने सम्प्रदाय को भी 'थेरवाद' कहा क्योंकि इनका सम्प्रदाय महासांघिक की तरह नवनिर्मित नहीं था, बल्कि सम्पूर्ण संघ की अटूट शृंखला थी और ये भिक्षु परम्परा को अक्षरशः संयोगने के हावी थे।

ये रूढ़िवादी भिक्षु महासांघिक को संघ का विभाजित अर्द्धभाग नहीं मानते थे, बल्कि इसे संघ से बहिष्कृत भिक्षुओं का सम्प्रदायमात्र समझते थे। महावंस ( ५, २ ) में इस सम्प्रदाय को तथा इसके और थेरवादियों के उपसम्प्रदायों को 'अचरियवाद' को संज्ञा दी गयी है। ये सम्प्रदाय के संघ के विकासक्रम में फूट निकलनेवाली शाखायें नहीं थी, बल्कि भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा उत्पन्न संघभेद के परिणाम थे। इन सम्प्रदायों की स्थापना आचार्यों द्वारा हुयी थीं। पुनः दीपवंस में ( ५,५२ ) इन्हें 'कण्टक' कहा गया है। वृक्ष पर निकल आनेवाले काँटों की तरह ये अवांछनीय थे। थेरवाद के सर्वांगीणता को तुलना 'महाबोधिवृक्ष' से की गयी है। पुनः महाबोधिवंस ( पृ० ९७ ) में सम्प्रदायों के विकास की तुलना 'चन्दन वृक्षसमूह से निकले अग्निपुंज' ( चन्दनक्खन्धतो निक्खन्त अनलकलापा विय…जाता ) से की गयी है, जो स्वयं चन्दन के लिये घातक है ९

रूढ़िवादी भिक्षुओं द्वारा अपने सम्प्रदाय को थेरवाद कहने के पीछे जो भावना और उक्ति है उसे उत्तरी बौद्ध-परम्परा का भी समर्थन मिलता है। बुस्तोन के अनुसार अपने को महास्थविरों की अध्यात्मिक सन्तान मानने के कारण ही स्थविरों ने इस नाम ( स्थविरवाद/थेरवाद ) को ग्रहण किया। भव्य ने१० इसकी व्याख्या करते लिखा है कि जो स्थविरों को 'अरिय' मानते हैं वे स्थविरवादी कहलाते हैं। परन्तु इन सूत्रों में यह स्वीकार नहीं किया गया है कि यह नाम उन्हें परम्परानुक्रम से उपलब्ध हुआ। इन सूत्रों के अनुसार संघ ही का विभाजन थेरवाद और महासांघिक नाम से दो सम्प्रदायों में हुआ था।११ इसका अर्थ यही

---

८. महावंस ५, १—महाकस्सपादिहि महाथेरहि आदितो। कता सद्धम्म संगीति थेरिया'ति पवुच्चति।

९. ओबरमीलर द्वारा अनुवादित, हिस्टरि आव बुद्धिज्म ( हेडलबर्ग, १९३२ ) पृ० १००।

१०. राकहील द्वारा अनुवादित अंश, लाइफ आव बुद्ध ( लण्डन, १८८४ ) पृ० १८४।

११. सम्प्रदायों की विभिन्न वंशानुक्रमणिका, देखिये—अण्ड्रेबारो : लेस सेक्टे ( सागौन, १९५५ ) पृ० १६-३० ; ओबरमीलर : उपरोक्त अनुवाद, पृ० ९८-९९ ; राकहील : उपरोक्त पुस्तक, पृ० १८३-८६।

निकलता है कि रूढ़िवादियों ने ही सर्वप्रथम अपने सम्प्रदाय एवं अविभाजित संघ के लिये 'थेरवाद' का प्रयोग किया। विभाजन के पूर्व संघ के लिए ऐसा कोई नाम नहीं था।

साथ ही अन्य सूत्रों में कोई ऐसा उल्लेख नहीं है जो विभिन्न सम्प्रदायों को समान स्थान देने से अस्वीकार करे। अधिक से अधिक इतना ही कहा गया है कि इन सम्प्रदायों में कुछ प्रमुख थे जिनसे अन्य का उद्भव हुआ। थेरवाद प्रमुख सम्प्रदायों में एक था।१२ सभी सम्प्रदाय समान रूप से बुद्ध के उपदेशों को मानते और उनका प्रचार करते थे।१३ अन्तर केवल इतना ही था कि थेरवादी बुद्ध के उपदेशों को अक्षरश संयोगने पर बल देते थे जबकि अन्य बुद्ध के उपदेशों के दार्शनिक गूढ़ता को समझने और विशिष्ट सैद्धान्तिक रूप में लाने का प्रयास कर रहे थे, तथा इसी में अपने को अन्य दूसरों से बौद्धिक रूपेण श्रेष्ठतर बतलाते थे।१४

परम्परानुक्रम से नाम की उपलब्धि की पुष्टि के लिये स्वयं पालि पिटकों में भी कोई प्रमाण नहीं है। विनय पिटक में आये प्रथम और द्वितीय संगीति के विवरणों में भी 'थेरवाद' का उल्लेख नहीं है। निकायों के लिये भी यह प्रचलित शब्द नहीं है। केवल मज्झिम-निकाय के पासरासि१५ एवं अन्य दो सुत्तों में एक ही प्रसंग में इसका प्रयोग हुआ है, लेकिन यहाँ भी यह संघ को सम्बोधित नहीं करता है। जैसा कि प्रसंग से स्पष्ट है – ञाणवाद (ज्ञानवाद) के साथ इसका प्रयोग 'बोधिज्ञान के लिये किया गया है, जिसका बुद्ध को साक्षात्कार हुआ था। बुद्ध स्वीकार करते हैं कि आलारकालाम और उद्दकरामपुत्त के संग रहते हुए वे एवं अन्य ञाणवाद और थेरवाद के सम्बन्ध 'मुखोच्चारणमात्र' ही जानते थे, लेकिन वस्तुत जानने का दम भरते थे—"ओट्ठपहतमत्तेन लपितलापनमत्तेन ञाणवादं च वदामि थेरवादं च जानामि पस्सामी'ति च पटिजानामि अहञ्चेव अञ्ञे च" (देव० मज्झिम, १ पृ० २१५)।

---

१२ वही।

१३ ओबरमीलर उपरोक्त अनुवाद, पृ० ९६—चतुर्थ संगीति में सभी सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों द्वारा एक मत से स्वीकार किया गया था।

१४ बील उपरोक्त अनुवाद, पृ० १३७।

१५ अन्य दो सुत्तों का समानान्तर अनुवाद 'चीनी आगम' (जिसका मूल सर्वास्तिवाद का आगम रहा है) में नहीं है। पासरासि सुत्त का समानान्तर अनुवाद चीनी आगम में है, परन्तु यहाँ 'ञाणवादं च थेरवादं' की जगह 'फा' (धर्म) का प्रयोग मिलता है। प्रसंग दोनों में समान है।

अट्ठकथा[१६] में थेरवाद की व्याख्या—'थिरभाववाद' की गयी है। 'थिर' अर्थात् स्थिर का अर्थ शाश्वत से है। 'थेरवाद' ञाणवाद ( ज्ञानस्वरूप ) का पर्यायवाची होने के कारण व्यक्ति, काल और स्थान से परे शाश्वत रूप है। यह थेरवाद बुद्धों ही का 'वाद' ( मार्ग, धर्म ) है जिसका साक्षात्कार गौतम बुद्ध को हुआ था। संयुक्त-निकाय ( देव० भाग-२, पृ० ६१ ) में बुद्ध स्वयं ऐसी घोषणा करते हैं कि अतीत के बुद्धों द्वारा अनुयात मार्ग को मैंने देख लिया है। पुनः वे कहते हैं कि मैंने किसी नूतन मार्ग का उपदेश नहीं किया है, बल्कि यह बुद्धों ही का मार्ग है। दीघनिकाय ( देव० भाग-२, पृ० ६६-६७ ) में अतीतानागत के बुद्धों तथा वर्तमान बुद्ध के मार्ग को 'एक' कहा गया है। इस प्रकार नैकायिक अर्थ में थेरवाद का अर्थ बुद्धों के वाद ( मार्ग, उपदेश ) से है जो 'थिर' अर्थात् शाश्वत है और जिसका बोधिसत्त्व केवल साक्षात्कार करते हैं। इस अर्थ में रूढ़िवादी सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय भी थेरवाद कहलाने के समान रूप से अधिकारी हैं क्योंकि सभी बुद्ध के मार्ग के अनुयायी हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि परम्परानुक्रम से थेरवाद नाम की उपलब्धि की बात ऐकपाक्षिक है और संभवतः सम्बद्ध पक्ष द्वारा विशेष उद्देश्य से गढ़ी गयी है। संघ के विभाजन और महासांघिकों के अस्तित्व में आते ही रूढ़िवादी भिक्षुओं ने अपने सम्प्रदाय के लिये थेरवाद नाम चुना और इसे संघ की अविच्छिन्न परम्परा के रूप में सम्मानित करने के लिये 'अविभाजित संघ' को भी थेरवाद नाम दिया। अपने सम्प्रदाय को ऊँचा दिखलाने के लिये अन्य को अचरियवाद, कण्टक आदि कह कर नीचा दिखलाने की चेष्टा भी की। उनका एकपक्षीय कार्य इस ओर संकेत करता है कि वे अपने सम्प्रदाय के सम्मान में ह्रास का अनुभव कर रहे थे अथवा उनके प्रतिद्वन्दी महासांघिकों की लोकप्रियता उनसे बढ़ गयी थी। जैसा कि महासंगीति

---

'ञाणवादं च थेरवादं' की जगह 'फ़ा' का प्रयोग महत्व का है, कारण इसका सम्बन्ध परम्परानुगृहित थेरवाद नाम से हो सकता है। संभव है कि थेरवादियों ने ही अपने नाम को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये 'थेरवाद' को बाद में जोड़ दिया हो। यह भी संभव है कि सर्वास्तिवादियों ने इस शब्द की जगह 'धर्म' का प्रयोग किया हो क्योंकि यह बुद्ध के धर्म को अभिहित करने के साथ ही साथ एक सम्प्रदाय विशेष को भी सम्बोधित करता है। आगम के अनुवादक ने अनुवाद के साथ ही सम्पादन का कार्य भी जगह-जगह किया है। अतः एक संभावना यह भी है कि पाठ को सहज और बोधगम्य बनाने के लिये 'थेरवाद' की जगह 'फ़ा' को अनुवादक ने रखा हो।

१६. रोमन० पपञ्चसूदनि० पृ० १७१।

से सम्प्रदाय के नाम की उत्पत्ति और अन्य उल्लेखों से प्रकट होता है, महासांघिक अपनी प्रगतिशीलता और उदारता के लिये अधिक लोकप्रिय हो रहे थे। उनकी लोकप्रियता का एक कारण, सांघिक कार्यों में गृहस्थों को हाथ बटाने का अवसर देना भी था। लोकप्रियता के लिये प्रतिस्पर्द्धा में असफल रुढ़िवादी भिक्षुओं में प्रतिकार की भावना आ गयी थी जो उनके एकपक्षीय कार्यों में अभिव्यक्त हुयी।

पुन थेरवाद नैकायिक अर्थ में इस सम्प्रदाय को भिन्नात्मक विशिष्टता देने में असमर्थ था। अत इसके अर्थ को सीमित करके इसे प्रथम सगीत के महाकश्यपादि महाथेरों द्वारा स्थापित परम्परा के लिये प्रयुक्त किया गया। इस अर्थ में यह विशिष्ट रूप से इनके सम्प्रदाय के लिये उपयुक्त होता था, कारण महासांघिक इस परम्परा को अक्षरश रूयोगते चलने के पक्ष में नहीं थे। वे आवश्यक परिवर्तन के हामी थे।

अन्त में उपर्युक्त व्याख्या के निष्कर्ष में यही कहा जा सकता है कि रुढ़िवादियों ने अपने सम्प्रदाय के लिये थेरवाद को सीमित अर्थ में प्रयुक्त कर महासांघिकों की लोकप्रियता के विरुद्ध परम्परा के कट्टर सरक्षक रूप में सम्मान पाने का सफल प्रयास किया। 'थेरवाद' नाम परम्परा को अपने रूप में सयोगे रहने की उनकी भावना का परिचायक है, यद्यपि इसमें वे पूर्ण सफल नहीं रहे। बुद्ध के उपदेशों की नयी नयी व्याख्या और नये मूल्यांकन के सदर्भ में उन्हें भी अपने को समय के प्रवाह में रखने के लिये अपने धम्मविनय में परिवर्तन एव परिवर्द्धन करना पड़ा।

२ विभज्जवाद—थेरवाद का ही दूसरा नाम विभज्जवाद है। बुद्ध के विभज्जवादी होने के आधार से सम्प्रदाय को विभज्जवादी कहा गया है—"विभजवादिना मुनिन्देन देसितत्ता विभजवादो' ति च वुचति" ।१७ आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी के अनुसार विभज्जवादी बुद्ध के वाद का अनुसरण करने वाले शिष्य विभज्जवादी कहलाते हैं—"एव वुतत्ता विभज्जवादी भगवा । तस्स भगवतो परियत्तिकोविदा सावका पि त वाद अनुसरन्ति, तस्मा विभज्जवादी'ति वुचन्ति" ।१८ यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या बुद्ध वस्तुत विभज्जवादी थे और यदि थे, तो किस विशिष्ट अर्थ में यह केवल थेरवाद को सम्बोधित करता है।

'स-साहित्य में आये उल्लेखों के अनुसार थेरवादियों ने ही बुद्ध को विभज्जवादी कहा। तृतीय सगीति के समय उन्होंने इसका प्रयोग 'सांकेतिक शब्द' के रूप में किया। सगीति के

१७ महाबोधिवस ( लण्डन, १८९१ ) पृ० ९५।
१८ विसुद्धिमग्गदीपिका ( सारनाथ, १९४३ ) पृ० १२५।

पूर्व अशोकाराम[१९] में वैसे भिक्षु आ मिले थे जो बुद्ध के उपदेशों की अलग-अलग व्याख्या करते थे और भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के पोषक थे। धर्म सम्बन्धी मतभेदों को लेकर उनमें दलीय भावना का उदय हो गया था, जिसके फलस्वरूप सात वर्षों तक उपोसथ कार्य[२०] बन्द रहा। अतः इन भिक्षुओं से आराम को मुक्ति दिलवाने और धम्मविनय का पुनः संगायन करवाने की तत्क्षण आवश्यकता आ पड़ी। इस विशुद्धीकरण के क्रम में भिक्षुओं से एकैकशः पूछा गया कि बुद्ध का क्या वाद था—"किं वादी भन्ते सम्मासम्बुद्धो'ति"। और जिन भिक्षुओंने उन्हें विभज्जवादी कहा—"विभज्जवादी भन्ते सम्मासम्बुद्धो'ति", उन्हें छोड़कर अन्य को आराम से निकाल दिया गया तथा संगीति बुलवाकर धम्मविनय का पुनः संगायन किया गया। इस घटनाकाल से ही सम्प्रदाय का नाम 'विभज्जवाद' हो गया। पर आगे के उल्लेखों से ऐसा लगता है कि इस घटना के पूर्व बुद्ध के विभज्जवादी होने की बात सर्वसाधारण को विदित नहीं थी, अन्यथा कोई कारण नहीं था कि संगीति के संरक्षक अशोक, उसके अध्यक्ष मोग्गलिपुत्ततिस्स से इस विषय पर स्पष्टीकरण चाहते।

विनय और निकायों के लिये भी यह प्रचलित शब्द नहीं है। केवल मज्झिम-निकाय के सुभसुत्त में कई स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है। वहाँ बुद्ध से कई प्रश्न पूछे जाते हैं जिनके उत्तर में वे कहते हैं कि मैं यहाँ विभज्जवादी हूँ, एकंसवादी नहीं—"विभज्जवादी अहं खो एत्थ नाहं एत्थ एकंसवादी"।[२१] प्रसंग एवं 'एत्थ' के प्रयोग से स्पष्ट है कि बुद्धने उक्त प्रसंग में ही अपने को विभज्जवादी कहा।

'विभज्जकरणीयं' और 'एकंसकरणीयं' प्रश्नोत्तर के दो प्रकार हैं। इनके अतिरिक्त दो और हैं—'पटिपुच्छाकरणीयं' और 'ठपनीयं'।[२२] अपनी अपनी जगह ये सभी समान रूप से उपयोगी और गुरुत्वपूर्ण हैं। सफल विवादार्थी के लिये इन चारों में दक्ष होना आवश्यक है। बुद्ध

---

१९. यह आराम (मठ) पाटलिपुत्र में था जो अशोक के नाम पर अशोकाराम कहलाता था। उस समय थेरवादियों का यह गढ़ था।

२०. पक्ष के अन्तिम दिन बौद्ध भिक्षु एक साथ मिलकर पूर्वनिश्चित स्थानपर प्रातिमोक्ष के नियमों का पाठ करते हैं। साथ ही अगर किसी भिक्षु से इन नियमों में से किसी का जाने-अनजाने उल्लंघन हुआ हो, तो उसे स्वीकार करते हैं; और उन्हें निर्धारित दण्ड भुगतना पड़ता है।

२१. इसी प्रसंग में बुद्ध की यह उक्ति इसके समानान्तर चीनी अनुवाद में भी है जिसका मूल संभवतः सर्वास्तिवादियों का आगम ही रहा है। द्रष्टव्य—चीनी त्रिपिटक का तैसो-संस्करण, पृ० ६६७ ए।

२२. देव० दीघनिकाय-३, पृ० १७९; देव० अंगुत्तर-निकाय- १, पृ० १८३।

बुद्ध विभज्ज के प्रति सदा सजग थे। यह सत्य है कि उन्होंने ब्राह्मणों एव तैर्थिकों के लोक, जीव आदि के सम्बन्ध के तत्त्वशास्त्रीय सिद्धान्तों को दृष्टि या मिथ्यादृष्टि कहा, किन्तु उन्होंने उन्हें सर्वथा असत्य नहीं माना। उनकी सापेक्ष सत्यता को स्वीकार करते हुए उन्हें जन्मांधों के हस्ति-ज्ञान की तरह एकपक्षीय और आंशिक कहा। अकिरियवाद, उच्छेदवाद आदि जो तैर्थिकों द्वारा प्रतिपादित मत थे, वे बुद्ध के सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत थे। बुद्ध ने अकिरियवाद, उच्छेदवाद आदि के सिद्धान्तविशेष को मिथ्यादृष्टि कहा, पर अकिरिय, उच्छेद आदि को स्वीकार किया और अपने को एक अर्थ में अकिरियवादी, उच्छेदवादी आदि भी कहा। वेदना के प्रकार के विषय में प्रश्न किये जाने पर बुद्ध ने आनन्द को बतलाया कि दो प्रकार की वेदना है यह भी कहना सत्य है, तीन प्रकार की वेदना है यह भी कहना सत्य है, आदि आदि, परन्तु सभी अपने अपने अर्थ में ही। स्वयं तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों पर मौन रहे क्योंकि वे उन्हें ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक नहीं मानते थे, फिर भी भौतिकाभौतिक विषयों के अनित्य अनात्म दुःखभाव को दिखलाने एवं लोगों की उन विषयों में निहित आसक्ति को मिटाने के लिये बुद्ध ने सदा विश्लेषण का सहारा लिया। 'विषय' रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों का संघातमात्र है। इनके प्रति जो तृष्णा है उसीसे दुःख का समुदय होता है, तृष्णा का निरोध ही दुःखनिरोध है और मध्यममार्ग दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा है। इन्हीं सबका विभिन्न प्रसंगों में विविध प्रकार से सूत्रों में विश्लेषण किया गया है। आचार में भी बुद्ध ने कार्यों के सापेक्ष मूल्य को स्वीकार किया। कार्य अपने में न तो कुशल हैं और न तो अकुशल ही। हेतु से ही ये कुशलाकुशल होते हैं। बुद्ध ने कार्यों के सम्पादन में शारीरिक शुद्धता से अधिक महत्त्व मानसिक शुद्धता को दिया। यही कारण है कि बुद्ध ने प्रव्रजित होने मात्र से ही किसी को कुशलमार्ग का आराधक नहीं माना। देवदत्त द्वारा रखे गये आमिषाहार के सर्वथा निरोध के प्रस्ताव को नहीं माना, जबकि पाणातिपाता वेरमणी (जीवहिंसा से विरत रहना) शीलों में प्रथम ही आता है और जिसका पालन गृहस्थों के लिये भी अनिवार्य कहा गया है।

इस प्रकार विभज्ज के प्रति सदा सजग रहने के कारण बुद्ध को विभज्जवादी कहना युक्तिसंगत है। विद्वानों ने भी विभज्ज को बुद्ध के उपदेशों की अन्तर्निहित विचारधारा, धर्मोपदेश की विशिष्टपद्धति एवं दार्शनिक विचार पद्धति माना है।[२९] श्री किमुरा[३०] के अनुसार

---

२९ श्रीमती रायस् डेविड्स् कथावत्थु-अनुवाद की पूर्ववर्ती टिप्पणियाँ, पृ० ४०, ४१, एन० दत्त अरली हिस्टरि, पृ० २४९-५०, थोमस उपरोक्त पुस्तक, पृ० ३९।

३० आशुतोष मुखर्जी सिलवरजुबली, भा० ३ ओरियेण्टा-३, पृ० ११०।

विभज्जवादी होने के कारण ही बुद्ध ने "कभी एक विचार नहीं दिया··· सदा सापेक्ष उत्तर दिया। कभी कभी एक ही विषय की स्वीकारात्मक और नकारात्मक व्याख्या की।

बुद्ध विभज्जवादी थे और उनके विभज्जवादी होने से थेरवादियों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय भी विभज्जवादी कहलाने के अधिकारी हैं। यहाँ हमारा दूसरा प्रश्न उठता है कि किस विशिष्ट अर्थ में यह केवल थेरवादी सम्प्रदाय के लिये ही प्रयुक्त है। श्रीमती रायस् डेविडस् थेरवादियों द्वारा इसके चुनाव में एक दृढ़ परम्परा को देखती है परन्तु साथही ऐसी निराशा प्रकट करती हैं कि अनिच्चवादी, अनत्तवादी आदि बहुचर्चित संज्ञाओं को छोड़ विभज्जवादी की संज्ञा से बुद्ध को अभिहित करने के पीछे जो कारण रहे हैं, वे हमारी पहुँच से परे हैं। उनकी निराशा यथार्थ नहीं दीख पड़ती है।३१ तृतीय संगीति के समय इसके चुनाव से सुस्पष्ट है कि उक्त घटना और उसके कारणों से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, और यदि हम उक्त घटना के समय की परिस्थितियों पर ध्यान दे तो इस सम्बन्ध में प्रचुर प्रकाश मिल सकता है।

महासांघिक के अस्तित्व में आने के साथ ही संघ के विभाजन का क्रम रुका नहीं, पुनर्विभाजन होता चला गया और एक दो ही शतों में कुल अट्ठारह सम्प्रदाय हो गये थे। विभिन्न सूत्रों एवं विद्वानों ने एकमत से सैद्धान्तिक मतभेदों को ही विभाजन का प्रमुख कारण माना है। यह मतभेद प्रमुखतः बुद्ध के उपदेशों के सम्बन्ध में नहीं था३२ बल्कि उपदेशों की नयी व्याख्या और नये मूल्यांकन को लेकर उत्पन्न हुआ था। पालिसूत्रों के अनुसार विभाजन का क्रम तृतीय सगीति के समय तक पूर्ण हो चुका था। अन्यसूत्रों में इस संगीति को मान्यता नहीं दी गयी है और विभाजन का काल भी यहाँ अपेक्षाकृत लम्बा है। फिर भी संगीति का समय विभाजन काल के मध्य में पड़ता है। और यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि विभाजन और सम्प्रदायों के उद्भव के फलस्वरूप ही थेरवादियों को संगीति बुलवाने की आवश्यकता हुयी। जैसा कि उपर कहा गया है, भिन्नमतानुयायी भिक्षुओं के थेरवादी सम्प्रदाय में प्रवेश कर जाने से साधारण जीवन अस्तव्यस्त हो गया था। अतः इन भिक्षुओं को वहिष्कृत करके धम्मविनय का पुनः संगायन किया गया। संगीति के अध्यक्ष, मोग्गलिपुत्त-तिस्स ने विभिन्न मतों का खण्डन करके उन्हें पुस्तक रूप में संकलित किया जो कथावत्थु नाम से

---

३१. उपरोक्त अनुवाद, पृ० ४१—निराशा का एक मात्र कारण है कि वह विभज्जवाद को शाश्वतवाद उच्छेदवाद आदि अबौद्ध मतों के विरुद्ध प्रतिपादित मान लेती हैं।

३२. यही कारण था कि भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के सूत्र-पिटकों में अत्यधिक समानता थी। यह तथ्य चीनी में अनुवादित ( सर्वास्तिवादी ) आगमों, मूलसंस्कृतसूत्रों के प्राप्तांशों और पालि निकायों के तुलनात्मक अध्ययन से स्थापित हो चुका है।

कहा जाता है। कारित्र की अवस्था में परिवर्तन होता है और इसी परिवर्तन के आधार पर धर्मों के काल का निर्धारण होता है। जो धर्म कारित्र में संलग्न नहीं हैं, वे अनागत हैं, जो सलग्न हैं, वे वर्तमान हैं, और जिनकी सलग्नता निरुद्ध हो चुकी हैं, वे अतीत हैं। अवस्था में परिवर्तन से धर्मों के द्रव्य में अन्तर नहीं आता है। उनका स्व-भाव अपरिवर्तित है।४१ कारित्र को ही अनित्य, अनात्म आदि कहा गया है। इसी का उत्पाद और वय होता है। कारित्र की इकाई के उत्पाद, स्थिति और वय में जो अवधि लगती है, उसे एक क्षण मानते हैं। क्षणमात्र जीवन-काल होने से कारित्र की इकाई को क्षणिक कहा गया है। परन्तु इसका क्षणभग नहीं होता है। यह परवर्ती इकाई के उत्पादादि का कारण भी बनता है।

धर्मों को सत्य-नित्य मान कर सर्वास्तिवादियों ने एक प्रकार से 'अस्तित्ववाद' को स्वीकार किया, जो कट्टर अनात्मवादी थेरवादियों के लिये एक चुनौती थी। उन्हें इसका खण्डन करना और बुद्ध के मूल सिद्धान्त को पुन प्रकाश में लाना था। उनके अनुसार ये धर्म स्वय विपाक और विपाक उत्पन्न करनेवाली क्रियायें हैं। इनका अस्तित्व सापेक्ष है अर्थात इनकी कार्य सक्षमता ही इनकी सत्ता है।४२ ये उतने ही समय तक विद्यमान हैं जबतक इनमें कार्य सक्षमता है और इस कार्य-सक्षमता की अवस्था को वर्तमान कहा गया है। इस प्रकार इनकी सत्ता केवल वर्तमान तक ही सीमित है। जिनकी कार्य सक्षमता निरुद्ध हो चुकी है, वे अतीत धर्म हैं और जो इस अवस्था को नहीं पहुँच सके हैं, वे अनागत धर्म हैं।४३ धर्म की एक इकाई के 'उप्पाद, ठिति और भङ्ग' के तीन क्षणों को एक चित्तक्खण (चित्तक्षण) और सत्तरह ऐसे चित्तक्खणों को एक रूपधर्म इकाई की आयु मानी गयी है।४४ ये क्षण रूपधर्म-इकाई की सक्षमता की अवधि है, जिसे वर्तमान कहा जाता है। काल की अवधिमूलक परिभाषा को

---

४१ स्फुटार्था, ५ २६—यस्यां अवस्थाय स धर्म कारित्र न करोति तस्यां अनागत उच्यते, यस्यां करोति तस्यां वर्तमान, यस्यां कृत्वा निरुद्ध तस्यां अतीता अवस्थान्तरो न द्रव्यान्तरत इति।

४२ मिलिन्दपञ्हो, पृ० ५२—ये ते महाराज सखारा अतीता विगता निरुद्धा विपरिणिता सो अद्धा अत्थि। ये धम्मा विपाका ये विपाकधम्मधम्मा ये च अन्यत्र पटिसधि देति सो अद्धा नत्थि।

४३ मज्झिम-निकाय, पृ० १६०—यदातीत पहीन त अप्पत्तं च अनागत॥ पच्चुप्पन्न च यो धम्म तत्थ तत्थ विपस्सति।, धम्मसगीनि, पृ० २३७।

४४, अभिधम्मत्थसगहो, ४।६-८—उप्पाद ट्ठिति भङ्ग वसेन खणत्तय एकचित्तक्खण नाम। तानि पन सत्तरस चित्तक्खणानि रूपधम्मानमायु।

ध्यान में रखकर ही तीनों काल के स्थान पर 'उप्पन्न उप्पादिन और अनुप्पन्न' का प्रयोग अभिधम्म में किया गया है।४५ उप्पन्न ( वर्तमान ) का स्वरूप उप्पादिन ( अतीत ) के उपादान से बनता है, अतः उप्पन्न से परे उप्पादिन धर्मों का अस्तित्व नहीं है। पुनः उप्पन्न के उपादान से अनुप्पन्न ( अनागत ) का स्वरूप बनेगा, अतः उत्पन्न होने के पूर्व अनुप्पन्न धर्मों का अस्तित्व नहीं है। इस तरह केवल उप्पन्न अर्थात् वर्तमान धर्मों का ही अस्तित्व है।४६

इस प्रकार धर्मों की सापेक्ष सत्ता को स्वीकार कर थेरवादियों ने अपने धर्मसिद्धान्त में विभज्जवादी विचार धारा को अपनाया और इस रूप में वे विशिष्ट रूप से विभज्जवादी हैं। सर्वास्तिवादी इस रूप में विभज्जवादी नहीं हैं, वे यहाँ एकंसवादी हैं। 'नाम' रूप में विभज्जवाद सर्वास्तिवाद के समानान्तर बैठता है और सर्वास्तिवाद के 'सर्वमस्ति' की जगह सापेक्षता अर्थात् विभज्ज पर बल देता है। यह दूसरी बात है कि इस विचारधारा पर और कई सम्प्रदाय भी विकासित हुए और इनमें से एक विभज्यवाद नाम से बहुचर्चित भी रहा। उत्तरी बौद्ध-परम्परा के ऐतिहासिक और दार्शनिक ग्रन्थों में इसी विभज्यवाद का उल्लेख आया है।४७ परन्तु एक विचारधारा पर विकसित होते हुए भी इनके धर्मसिद्धान्त एक से नहीं हैं। विभज्जवादी केवल वर्तमान धर्मों की सत्ता को स्वीकार करते हैं, जबकि विभज्यवादी उन अतीत धर्मों की भी जिनका विपाक निरुद्ध नहीं हुआ है। एक अन्य सम्प्रदाय, कस्सपीय उन धर्मों की सत्ता भी स्वीकार करते हैं जिनके स्वरूप का अतीत और वर्तमान कर्मों द्वारा पूर्वनिश्चिय हो चुका है।४८

पालिसूत्रों में कहीं भी सर्वास्तिवादियों के धर्मसिद्धान्त के विरोध में, धर्मों की सापेक्ष सत्ता को स्वीकार करने के अर्थ में, थेरवादियों के विभज्जवादी कहे जाने के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं

---

४५. द्रष्टव्य—धम्मसंगीनि, पृ० २३७।

४६. द्रष्टव्य—भिक्षु ज्ञानपोनिक का अभिधम्म स्टडीज ; श्रीमती रायस् डेविड्स का कथावत्थु पर आधारित निष्कर्ष, उपरोक्त, पृ० ३९३।

४७. श्रीमती रायस् डेविड्स ( कथावत्थु-अनुवाद की पूर्व-टिप्पणियाँ, पृ० ४१ ) के मतानुसार विभज्जवाद नाम विशेष प्रचलित नहीं रहा। अतः इसी का कोई स्थानीय उत्तर-विकास उत्तरी बौद्ध-परम्परा के ऐतिहासिकों को इसे भिन्न सम्प्रदाय मानने के लिये भ्रमित किया है। कुछ हद तक ऐसा सोचना उचित जान पड़ता है, कारण इन सूत्रों के संकलन के शतयों पूर्व विभज्जवाद अपनी जन्मभूमि से निर्वासित हो चुका था। पर समस्या तब खड़ी होती है जब हम दोनों के धर्मसिद्धान्त को समान नहीं पाते हैं। अतः ऐतिहासिक परम्परा और धर्मसिद्धान्तों में असमानता के आधार पर विभज्जवाद और विभज्यवाद को क्रमशः विकसित दो सम्प्रदाय मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

४८. कथावत्थुप्पकरण अट्ठकथा—१, ८।

मिलता है। इस अभाव का कारण थेरवादियों की तत्वशास्त्रीय प्रश्नों के प्रति उपेक्षा ही रही है। अनात्मभाव को दिखलाने के लिये वे सदा रटे-रटाये ढग से पुद्गल का स्कन्धों आदि में विभाजन विश्लेषण करते रहे तथा उससे आगे तत्त्वशास्त्रीय गुत्थियों में उलझने से बचते रहे। सर्वास्तिवादियों के साथ धर्मों के अस्तित्व के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न होने पर उन्होंने 'सर्वमस्ति' के सिद्धान्त का विरोध तो किया, पर उसके खण्डन की ओर विशेष ध्यान न देकर पुद्गलनैरात्म्य की रट में शक्ति लगा दी। पुद्गल को स्कन्धों आदि में विभक्त कर उसके अनात्मभाव को दिखलाने के अर्थ में वे विभज्जवादी हैं और उनका सम्प्रदाय विभज्जवाद। अपने पक्ष को प्रामाणिक सिद्ध करने की भावना से बुद्ध को विभज्जवादी कहा और उनकी इस सज्ञा के आधार से अपने सम्प्रदाय को विभज्जवाद। फिर भी इस अर्थ में विभज्जवाद सम्प्रदाय को कोई विशिष्टता प्रदान नहीं करता, जो अन्य सम्प्रदायों से इसे अलग करे।

अन्त में उपर्युक्त अध्ययन के निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि सर्वास्तिवाद के 'सर्वमस्ति' की तरह 'विभज्ज' भी विभज्यवादी-सिद्धान्त का परिचायक है। थेरवादियों ने सर्वास्तिवादियों के सर्वमस्ति' के समानान्तर 'विभज्ज' को स्वीकार किया और इस अर्थ में वे विशिष्ट रूप से विभज्जवादी हैं, इसकी सगति अन्य के साथ नहीं बैठती है। सापेक्षवाद के रूप में विभज्जवाद सर्वास्तिवाद के समानान्तर बैठता है और 'सापेक्षता' के अर्थ में विभज्जवाद के प्रयोग को निकाय तथा उत्तरी बौद्ध-परम्परा के ऐतिहासिक एव दार्शनिक ग्रन्थों का भी साक्ष्य मिलता है। फिर, 'सर्वमस्ति' से सर्वास्तिवाद की तरह ही 'विभज्ज' से विभज्जवाद की व्युत्पत्ति, जैसा कि अभिधर्मकोषभाष्यादि में भी दिखलाया गया है, समुचित जान पड़ती है, न कि बुद्ध के विभज्जवादी होने के आधार से, जैसा कि महावसादि मे आया है। 'विश्लेषण' के अर्थ में इसका प्रयोग भी, जिसपर थेरवादियों ने एकमात्र बल दिया है, परम्परागत है, पर इसमें कोई साम्प्रदायिक पुट नहीं है, जो उक्त परिस्थिति मे इस सम्प्रदाय को एक विशेष नाम से अभिहित किये जाने के औचित्य को दिखलाये और सम्प्रदाय को पार्थक्यसूचक विशिष्टता प्रदान करे। यह वह विशिष्ट अर्थ नहीं है जिस अर्थ में यह 'विभज्जवाद' इस सम्प्रदाय के लिये ही एकमात्र तर्कसगत बैठता है।

थेरवाद नाम उनके सिद्धान्त का नहीं, बल्कि उनकी धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवादिता का प्रतीक है जिसे उन्होंने प्रगतिशील उदारवादी महासाधिकों के प्रति दिखलायी थी। इस नाम से वे महाकश्यपादि महाथेरों द्वारा स्थापित परम्परा के अक्षरशः पोषक हैं। इन दो नामों में से थेरवाद का ही प्रयोग सम्प्रदाय को सम्बोधित करने के लिये होता है। साधारणतः विभज्जवाद का प्रयोग इस रूप में नहीं होता है। इसका प्रयोग विद्वन्मण्डली तक ही सीमित रहा है।

# कीर्त्तिलता की कथा और उसकी ऐतिहासिकता

माताप्रसाद गुप्त

'कीर्त्तिलता' की कथा बहुत छोटी है ; वह केवल पितृ-वैर-प्रतिशोध की कथा है, और इस प्रकार है—संख्याएं विभिन्न पल्लवों और उनके अन्तर्गत उनके छंदों की हैं—

पल्लव १

( १-१५ ) रचना की भूमिका के अनंतर ( १६-१९ ) भृंग-भृंगी संवाद के रूप में कथा का आरंभ होता है। (२०) यहां पर ओइनी वंश का संक्षिप्त इतिवृत्त दिया गया है। (२३) इसके प्रसिद्ध पुरुषों में भोगीश्वर की सराहना करते हुए कहा गया है कि उनको फीरोजशाह ने 'पिय सखा' कहकर सम्मानित किया था। (२४-२५) उनके पुत्र गणेश्वर हुए थे, (२६-२९) जिनके पुत्र कीर्त्तिसिंह ने पितृ-वैर का प्रतिशोध लिया।

पल्लव २

(२) जब लक्ष्मणाब्द 'पक्षपंच बे (?)' था, और मधुमास के प्रथम पक्ष की पंचमी थी, तिरहुत के राज्य पर लुब्ध असलान ने, जो बुद्धि-विक्रम-बल से थक चुका था, गणेश्वर राय के पार्श्व में बैठकर विश्वासघातपूर्वक उन्हें मार डाला। (३) राज्य में हाहाकार मच गया और समाज में अव्यवस्था हो गई। (४) जब असलान का रोष शान्त हुआ, उसने (गणेश्वर के पुत्र ) कीर्त्तिसिंह का सम्मान करते हुए उन्हें उनके पिता का राज्य देने का निश्चय किया। (५) किन्तु वीर कीर्त्तिसिंह ने शत्रु द्वारा प्रदत्त राज्य को ग्रहण नहीं किया। (६) माता और मंत्रियों ने राज्य-ग्रहण करने के लिए उन्हें समझाया, (७) तो कीर्त्तिसिंह ने कुपित होकर उन्हें धिक्कारा कि वे इतने सहज ही में स्वामी को विस्मृत कर रहे थे, (९) और कहा कि वे कायरों की भांति शत्रु द्वारा प्रदत्त राज्य नहीं ग्रहण कर सकते थे। (१०) उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे पितृ-वैर का बदला लेंगे, संग्राम में शत्रु को परास्त करके ही उससे वे अपना राज्य वापस लेंगे। (१३) इसके अनंतर दोनों भाई ( वीरसिंह तथा कीर्त्तिसिंह ) घर से चल पड़े। (१४) उन्होंने लोक, परिवार, राज्य का भोग, घोड़ों तथा परिजनों को छोड़ा, जननी के चरणों में प्रणाम कर अपनी नवयौवना स्त्रियां उन्होंने छोड़ी, और गणेश्वर के वे दानों पुत्र बादशाह ( से पितृ-वैर-उद्धार में सहायता की याचना करने ) के लिए चल पड़े।

(१६) वे जोणापुर नगर पहुंचे, जो सुन्दर निर्मित और निवसित था। (१७-२४) कवि ने यहाँ पर नगर का विस्तृत वर्णन किया है, जो प्रायः तत्कालीन नगर वर्णन की रूढ़ियों के अनुसार ही है। (२५) यहाँ का शासक इबराहीम शाह था। (२६-३६) यहां पर कवि ने

तुर्कों के खान पान तथा आचार-व्यवहार का विस्तृत वर्णन किया है। (३७) सायकाल में दोनों भाइयों ने एक ब्राह्मण के घर में निवास किया।

## पल्लव ३

(२) सवेरा होने पर उन्होंने वज़ीर से अपने आने का अभिप्राय बताया और अपने कार्य में उसकी सहायता चाही। (३) दोनों भाई बादशाह से मिले। खुन्दे-आलम इब्राहीशाह ने प्रसन्न होकर कीर्तिसिंह से कुशल-समाचार पूछा। (४) कीर्तिसिंह ने कहा कि उसके चरणों का दर्शन पा कर उसे आज समस्त कुशल थे, केवल दो अकुशल थे एक तो यह कि उसके प्रताप से भिन्न एक प्रताप का उदित होना और दूसरा उनके पिता गणेश्वर का परलोक जाना। (५) बादशाह ने पूछा, "यह किसकी चाह (खबर) है जिसने तिरहुत ले लिया है?' कीर्तिसिंह ने कहा, मैं डर से ही यह कहने के लिए आया कि यहां तू (बादशाह) है और वहां पर असलान है। (६) पहले उसने तुम्हारे फरमान का उल्लंघन किया, तदनंतर उसने गणेश्वर राय का वध किया, और फिर बिहार पर अधिकार कर लिया। अब वह चामर और छत्र धारण करके चलता है, और तिरहुत से कर उगाहता है। क्या अब भी तुझे रोष नहीं है कि (बिहार पर) राज्य असलान कर रहा है? तो आज ही तू (अपने) अभिमान को जलांजलि दे दे। (७) दो भूपाल एक मेदिनी-नारी का भोग नहीं कर सकते हैं, वे एक-दूसरे को नहीं सहन कर सकते हैं और परिणामस्वरूप दोनों में अवश्य ही युद्ध होता है। (८) तेरे जैसा प्रतापी शासक भी यदि शत्रु का नाम सुनकर असहिष्णु नहीं होता है, तो अन्य व्यक्ति अपने-आप क्या वीरत्व कर सकेगा? (९) यह सुनकर सुल्तान कुपित हुआ और उसने (सेना को) तिरहुत-प्रयाण के लिए आज्ञा दे दी। (१०) सेना का प्रयाण हो गया। (११) किन्तु इस बीच कीर्तिसिंह को ज्ञात यह हुआ कि सेना पूर्व के स्थान पर पश्चिम की ओर चल पड़ी थी। (१२-१५) कीर्तिसिंह इससे चिन्तातुर हुए तो वीरसिंह ने उनसे धैर्य धारण करने के लिए कहा। (१६-२४) इस प्रकार प्रयाण कर इबराहीम शाह ने अनेक भूभागों पर विजय प्राप्त की। (२५-३५) दोनों कुमारों को उपवास की नौबत आने लगी, और विवश होकर उनके साथी भी एक एक कर जाने लगे, केवल श्री केशव नाम के अखौरी कायस्थ और सोमेश्वर ने उनका साथ न छोड़ा, दुरवस्था सहते हुए भी वे उनके साथ बने रहे। (३०-३१) कुमारों को अपनी माता की चिन्ता थी, किन्तु उन्हें संतोष था कि उनके स्वामिभक्त राज्य मूल—जिनकी सूची यहां पर दी गई है—उसका प्रबोध करते होंगे। (३६-४०) फिर

दोनों भाइयों ने साहस करके बादशाह से भेंट कर अपने अभिप्राय का निवेदन किया और शाही सेना को तिरहुत की ओर मुड़ने की आज्ञा हुई।

## पल्लव ४

(१-३४) यहां पर कवि ने शाही सेना की रण-सज्जा और उसके आतंक का विस्तृत वर्णन किया है, जो कि प्रायः रूढ़ि-सम्मत है। (३५-३८) सेना तिरहुत में प्रविष्ट हुई तो सुल्तान ने कुमारों से असलान को पराजित करने के संबंध में परामर्श किया और असलान के बल-वैभव के विषय में चिन्ता व्यक्त की, तो कीर्त्तिसिंह ने उससे कहा कि वह निश्चय ही असलान को मारकर उसके रक्त की नदी में पिता को तिलदान करने के लिए पैर रक्खेगा, इस विषय में सुल्तान तनिक भी चिन्ता न करे। (३९-४०) मलिक मुहम्मद मंगानी के नेतृत्व में सेना ने तैरकर गंडक नदी को पार किया, और वह असलान की सेना के सामने जा पहुंची। (४१) दोपहर को दोनों सेनाओं में मुठभेड़ हुई। (४१-५३) घमासान युद्ध हुआ, जिसमें कीर्त्तिसिंह के साहस को देखकर देवगण ने आकाश से पुष्प-वर्षा की। (५४-५६) असलान स्वयं कीर्त्तिसिंह से लड़ने के लिए निकल पड़ा। दोनों युद्ध करने लगे, जिसमें हारकर असलान ने पीठ दिखा दी। (५७-६०) कीर्त्तिसिंह ने उसे धिक्कारते हुए जीवन-दान दिया। (६१) कीर्त्तिसिंह का शुभ मुहूर्त में बादशाह ने अभिषेक किया।

रचना की इस कथा की ऐतिहासिक समीक्षा के प्रसंग में निम्नलिखित प्रश्न उठते हैं; नीचे कोष्टकों में आनेवाली संख्याएँ 'कीर्त्तिलता' के पल्लवों और छंदों की हैं :

१—वह फ़ीरोज़शाह कौन था जिसने 'कीर्त्तिलता' के अनुसार भोगीश्वर को 'प्रिय सखा' कहकर सम्मानित किया था (१-२३) और ऐसा क्यों किया था?

२—इस सम्मान-प्रसंग का समय क्या होना चाहिए?

३—असलान द्वारा गणेश्वर-वध की घटना (२.२ तथा ३.६ आदि) क्या इतिहासानुमोदित है?

४—गणेश्वर-वध की तिथि लक्ष्मणाब्द :'पक्ष पंच बे' (२.२) ईस्वी-तिथि कौन सी होनी चाहिए और जिस समय यह घटना हुई तिरहुत पर किसका अधिकार था?

५—वह इब्राहीम शाह कौन था (पल्लव ३-४) जिसके पास कीर्त्तिसिंह सहायता-याचना के लिए गया था?

६—'कीर्त्तिलता' में वर्णित जोणापुर (२. १६-३७) कौन-सा नगर है?

७—कीर्त्तिसिंह को असलान पर विजय कब मिली और कब तिरहुत की गद्दी पर उसका अभिषेक हुआ (४. ४१-६१)?

८—कीर्त्तिसिंह के साथ के श्री केशव अखौरी, सोमेश्वर तथा उनके तिरहुत में छूटे हुए स्वामिभक्त भृत्य ( ३, २५-३१ ) और इब्राहीम शाह के साथ के मलिक मुहम्मद मगानी ( ४, ३९-४० ) कौन थे, और इतिहास में उनकी क्या स्थिति है ?

रचना और उसके कवि विद्यापति का विवेचन करने वाले प्रायः सभी लेखकों ने 'कीर्त्तिलता' की ऐतिहासिकता पर विचार किया है, किन्तु यह विवेचन तिरहुत की पंजियों तथा लक्ष्मणाब्द के संबंध की विभिन्न धारणाओं आदि के कारण सुलझने के स्थान पर उलझ गया है। इस ऊहा-पोह में सबसे बड़ी कमी एक तो यह रह गई है कि 'कीर्त्तिलता' के साक्ष्य पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है, और दूसरे विवेच्य समय के दिल्ली और जौनपुर के मुसलमान इतिहासकारों के द्वारा लिखित इतिहास की उपेक्षा की गई है। अतः नीचे, ऊपर उठाए हुए, प्रश्नों पर क्रमशः इन साक्ष्यों की दृष्टि से विचार किया जाएगा। अन्य विद्वानों के मतों का जहाँ-तहाँ उल्लेख मात्र किया जाएगा, उनकी समीक्षा न यहाँ संभव ही होगी और न आवश्यक ही।

[ १ ]

जिस बादशाह ने भोगीश्वर को 'प्रिय सखा' कहा, उसका नाम 'कीर्त्तिलता' में 'पिअरोज शाह' दिया गया है (१, २३)। यों तो कई सुल्तानों और बादशाहों के नाम 'फीरोज़ शाह' थे, किन्तु यह फीरोज़शाह तुगलक (राज्यकाल १३५१-१३८८ ई०)१ ही हो सकता है। उसने दो बार लखनौती और पंडुआ के शासक इलियास पर आक्रमण किया था। प्रथम आक्रमण के लिए प्रस्थान उसने ८ नव० १३५३ ई० को किया था, और उसमें विजय प्राप्त कर वह दिल्ली १ सित०, १३५४ ई० को लौटा था।२ इस आक्रमण के प्रसंग में जब वह तिरहुत पहुँचा था, कहा गया है कि तिरहुत के राय ने सद्भावपूर्वक उसका स्वागत किया था, फीरोज़शाह ने भी उसे उचित सम्मान प्रदान किया था और तिरहुत जिस प्रकार पहले दरबार के अधीन और आज्ञाकारी था तथा खराज अदा किया करता था, उसी प्रकार वह पुनः आज्ञाकारी तथा अधीन हो गया था।३

उसने दूसरा आक्रमण लखनौती और पंडुआ पर १३६० ई० के अंत अथवा १३६१ ई० के प्रारंभ में किया था,४ और इससे वह १३६१ ई० के मई-जून में दिल्ली वापस हुआ था। इस आक्रमण के समय भी तिरहुत के राय के द्वारा उसके मार्ग में बाधक होने का उल्लेख नहीं

---

१ रिज़वी तुग़लुक़ कालीन भारत ( भाग २ ), पृ० ४०९।
२ वही, पृ० ४०-४५।
३. वही, पृ० ४१।
४. वही, पृ० ७८-८८।

है, इसलिए लगता है कि उसने अपने पूर्ववर्ती संबंधों का निर्वाह किया था। फलतः यह निश्चित है कि भोगीश्वर के साथ सद्भाव-संबंध रखने वाला फ़ीरोज़शाह उक्त नाम का तुग़लुक़ शासक ही था।

[ २ ]

जहां तक फीरोज़शाह के समय की बात है, यह निश्चित है उसका राज्यकाल १३५१ ई० तक है।५ भोगीश्वर का समय इतना निश्चित नहीं है। तिरहुत-राज्य की पंजियों में भोगीश्वर से संबंधित विवरण मिलते हैं, उनका साक्ष्य कहां तक प्रामाणिक माना जा सकता है, यह कहना कठिन है। किन्तु भोगीश्वर को फ़ीरोजशाह तुग़लुक का समकालीन मानने में कोई बाधा किसी ज्ञात तथ्य से नहीं पड़ती है, इसलिए उसे फ़ीरोजशाह तुग़लक का समसामयिक माना जा सकता है।

[ ३ ]

गणेश्वर का वध असलान ने किया, इसके साक्ष्य तत्कालीन मुसलमान लेखकों द्वारा लिखे हुए इतिहासों में नहीं मिलते हैं। किन्तु यह घटना भी ऐसी नहीं थी जिस पर दिल्ली शासन के इतिहास-लेखकों को कुछ लिखने की आवश्यकता होती। तिरहुत के इतिहास यदि इस विषय में 'कीर्त्तिलता' से प्रभावित हों तो आश्चर्य न होगा। किन्तु कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता है कि इस संबंध का 'कीर्त्तिलता' का साक्ष्य अस्वीकार किया जाए।

( ४ )

गणेश्वर वध की तिथि के संबंध में भी उपर्युक्त कारणों से 'कीर्त्तिलता' के ही साक्ष्य पर निर्भर करना होगा। इबराहीम शाह से कीर्त्तिसिंह कहता है—

पथम पेल्लिअ तुज्झु फरमान
गएन राय तौ बधिअ—
धरिअ छत्त तिरहुति उगाहिअ
तब्बहुं तो के रोष नहि रज्ज करओ असलान।
अब करिअहि मान क अज्ज जलंजलिदान ॥६

इससे प्रकट है कि उस समय जब कि असलान ने गणेश्वर का वध किया, तिरहुत पर

५. रिज़वी : तुग़लुक़ कालीन भारत ( भाग २ ), पृ० ४०९।
६. कीर्त्तिलता २, २०।

फरमान इसी इवराहीम शाह का चल रहा था—तभी तो 'पथम पेल्लिअ तुज्झु फरमान' कहा गया है। उसके फरमान की अवज्ञा करके ही असलान ने गणेश्वर को मारकर तिरहुत और विहार पर अधिकार किया था, और तिरहुत से कर उगाहने लगा था—यह भी ऊपर उद्धृत पंक्तियों से नितान्त स्पष्ट है। और 'तव्वहु तो के रोप नहि रज्ज करओ असलान' तथा बाद की पंक्ति 'अब करिअहि मान क अज्ज जल्जलिदान' से यह बात और भी पुष्ट हो जाती है।

किंतु इन पंक्तियों के पूर्व के इवराहीम शाह के इस प्रश्न से कि 'कओण चाहि, तिरहुति लेलि जहि साहि।' और इसके उत्तर से कि 'डरे कहिनी कए आन, ओहाँ तोहे ताहाँ असलान।' १ से यह भी प्रकट हो जाता है कि इवराहीम शाह को इस नई स्थिति का पता पहले से न था और घटना के कदाचित् कुछ ही बाद कीर्त्तिसिंह ने इवराहीम शाह को उसकी सूचना दी थी।७

कुछ लेखकों ने गणेश्वर का वध १३६१ तथा कुछ ने १३७२ ई० के आसपास माना है,८ और कहा है कि उसके बाद कीर्त्तिसिंह एक दीर्घ समय ( लगभग ११ वर्षों ) तक निष्क्रिय बैठा रहा, कदाचित् इसलिए कि वह अल्पावस्था का था अथवा प्रतिशोध लेने के लिए सहायता-याचना का उपयुक्त अवसर उसे नहीं मिल रहा था।९

उनके पहले कथन का आधार 'कीर्त्तिलता' का यह उल्लेख है कि लक्ष्मणसेन स० २५२ में असलान ने गणेश्वर का वध किया था जबकि उनके अनुसार लक्ष्मणसेन सवत् का प्रारम ११०९ ई० अथवा १११९ ई० में हुआ था। उनके दूसरे कथन का आधार कदाचित् कुछ नहीं है, उनकी कल्पना मात्र है ११-१२ वर्षों तक कोई भी वीर इस प्रकार निष्क्रिय इसलिए न बैठा रहेगा कि वह अल्प आयु का है। और 'कीर्त्तिलता' इसका प्रतिवाद करती है कि कीर्त्तिसिंह उस समय अल्प आयु का था, क्योंकि उसमें कहा गया है कि वीरसिंह और कीर्त्तिसिंह गणेश्वर के वध के बाद सुल्तान से भेंट करने के लिए अपनी नवयौवना स्त्रियों को छोड़कर गए थे। इसी प्रकार यह भी समव नहीं लगता है कि सहायता-याचना के लिए वे दीर्घकाल तक किसी उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में रहे हों, क्योंकि सुल्तान से यह सहायता वे और पहले भी मांग सकते थे, और इस कार्य के लिए उपयुक्त अवसर ११-१२ वर्षों की प्रतीक्षा के बाद

---

७ कीर्त्तिलता, २ १९।

८ यथा श्री शशिनाथ झा तथा दिनेश्वरलाल 'आनद' विद्यापति-पदावली, भूमिका, पृ० ४२।

९ वही, पृ० ५१।

आया था, इसका भी कोई प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है। 'कीर्त्तिलता' का साक्ष्य इस संबंध में भी पूर्णरूप से निश्चयात्मक है। उसके अनुसार घटना इबराहीम शाह के राज्य-काल में घटित हुई थी, कीर्त्तिसिंह ने ही सबसे पहले उसकी सेवा में पहुंच कर उसे इसकी सूचना दी थी। और इस संकट के समय में उसकी सहायता की याचना की थी। ऐसी दशा में उपर्युक्त कल्पनाएं निराधार ही मानी जाएंगी।

रही समस्या गणेश्वर वध की तिथि की। लक्ष्मणाब्द के संबंध में विवाद होने के कारण 'कीर्त्तिलता' के तिथि-संबंधी उल्लेख से विक्रमीय या ईस्वीय कौन सी तिथि बनती है, यह कहना कठिन है। यदि ११०९। १११९ ई० से लक्ष्मणाब्द का प्रारंभ माना जाए, तो अवश्य ही 'पक्ष पंच बे' से २५२+११०९। १११९=१३६१। १३७१ ई० की तिथि बनती है। किन्तु ऊपर दिए हुए तथ्यों के प्रकाश में यह तिथि असंभव लगती है। सुल्तान इबराहीम का राज्य-काल १४०१ ई०। १४०२ ई० से प्रारंभ होता है।[१०] इसलिए या तो लक्ष्मणाब्द का प्रारंभ ११०९। १११९ ई० से नहीं माना जा सकता है, और या तो 'कीर्त्तिलता' का साक्ष्य विश्वसनीय नहीं है। 'पक्ष पंच बे' के स्थान पर 'पक्ष पंचनवे' पाठ माना जाए तो अवश्य ११०९ ई० से लक्ष्मणाब्द का आरंभ मानने पर २९५+११०९=१४०४ ई० की तिथि होगी। लक्ष्मणसेन संवत् के सबंध में यदि संदेह न हो तो पाठ की यह संभावना विचारणीय होगी।

[ ५ ]

अब प्रश्न यह है कि यह इबराहीम शाह कौन सा था? १४०२। १४०४ ई० या उसके आसपास एक ही इब्राहोम शाह था, और वह था जौनपुर का सुल्तानुश्शर्क। 'कीर्त्तिलता' में आए हुए 'इबराहीमशाही' शब्द से कुछ लेखकों ने 'मुसलमान कुल का' अर्थ लिया है,[११] जो हास्यास्पद है। यह शब्द 'इबराहीम साह' के रूप में व्यक्ति विशेष के लिए रचना में कम से कम एक दर्जन बार आता है। रहा यह कि उसे सुल्तान कहा जाता था या नहीं, यह तो उस 'सुल्तानुश्शर्क' की उसकी उपाधि से ही प्रमाणित है जो उसके एक पूर्वज ख्वाजा सरा को इतिहास के अनुसार सुल्तान महमूद से प्राप्त हुयी थी।[१२] इतिहासकारों ने यह भी लिखा है कि उस समय तिरहुत शर्की सुल्तानों के अधीन था, वह जौनपुर के प्रथम सुल्तान

---

१०. रिज़वी : उत्तर तैमूरकालीन भारत ( भाग १ ), पृ० ६।
११. शशिनाथ तथा दिनेश्वरलाल 'आनंद' : विद्यापति-पदावली, भूमिका, पृ० ५०।
१२. रिज़वी : उत्तर तैमूरकालीन भारत ( भाग २ ), पृ० ३।

ख्वाज़ा जहां के समय से ही दिल्ली के शासन में नहीं रह गया था, क्योंकि ख्वाज़ा जहां ने तैमूर के आक्रमण के पूर्व ही तिरहुत पर अधिकार कर लिया था।१३ १३९८ ई० के तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली की रही-सही शक्ति भी समाप्त कर दी थी। इसलिए निश्चित है कि यह इबराहीम शाह शर्की है, जिसकी सहायता से कीर्त्तिसिंह ने अपना खोया हुआ राज्य पाया था।

[ ६ ]

'कीर्त्तिलता' में वर्णित जोणापुर भी जौनपुर है, योगिनीपुर नहीं, जैसाकि अनेक लेखकों ने कहा है। इतिहासों में कहा गया है कि १३६१ ई० में इसे फीरोजशाह ने ही मुहम्मद-शाहतुगलुक की स्मृति में यह नाम दिया था, क्योंकि वह जौना शाह कहलाता था।१४ जोगिनीपुर से जोनापुर ध्वनि परिवर्तन के नियमों के अनुसार भी नहीं बनता है, और ऊपर हम देख चुके हैं कि इस जोनापुर में शासक इबराहीमशाह था, जबकि उस समय योगिनीपुर (दिल्ली) में इस नाम का शासक इबराहीमशाह था, अत जोणापुर निस्सदेह जौनपुर है। उस समय जौनपुर का महत्व बहुत बढ़ गया था, और वह 'दूसरी दिल्ली' हो रहा था। विद्यापति का 'तेलगा, वगा, चोल कलिगा राआपुते मही्आ' (२, ३४) कथन उस समय दिल्ली के सबध में कदाचित् उतना तथ्यपूर्ण नहीं था जितना उस समय के जौनपुर के संबध में फीरोजशाह के बाद के पांच वर्षों में होने वाले पांच बादशाहों के राज्यकाल में१५ और उनके बाद महमूद के राज्यकाल में (१३९३-१४१३ ई० )१६ इस प्रकार के कथन की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। तैमूर के १३९८ ई० के दिल्ली के आक्रमण ने तो दिल्ली की स्थिति और भी बदल दी थी। दक्षिण और पूर्व के 'तेलंगा', 'वगा' 'चोल' और 'कलिंग' अवश्य ही इस समय सुल्तानुश्शर्क के दृष्टि निक्षेप के अधिक अपेक्षी रहे होंगे, जो पश्चिम में दिल्ली के पास कोल और रायवी तक के इलाकों पर अधिकार कर चुके थे, और पूर्व में जिनका आधिपत्य बिहार एव तिरहुत तक था।१७ इसलिए इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता है कि यह इबराहीम शाह जौनपुर का 'सुल्तानुश्शर्क' ही था।

---

१३ इलियट, भाग ४, पृ० २९।

१४ रिज़वी तुगलुक कालीन भारत (भाग २), पृ० ८१।

१५ इतिहास के अनुसार ये बादशाह थे तुगलुक शाह द्वितीय (१३८८-८९ ई०), फीरोजशाह ज़फर (१३८९ ई०), अबूबक्रशाह (१३८९-९० ई०), मुहम्मद चतुर्थ, बिन फीरोज़ (१३९०-१३९२।१३९३), सिकदर शाह प्रथम (१३९३ ई०) रिज़वी तुगलुक कालीन भारत (भाग २), पृ० ४१९-४३०।

१६ वही, पृ० ४३१।

१७, रिज़वी उत्तर तैमूरकालीन भारत (भाग २), पृ० ३।

[ ७८ ]

इबराहीम शाह का आक्रमण असलान पर कब हुआ होगा प्राप्त ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर इसकी निश्चित तिथि नहीं बताई जा सकती है। श्री केशव अखौरी, सोमेश्वर और तिरहुत के स्वामिभक्त भृत्यों तथा मलिक मुहम्मद मंगानी के संबंध में भी हमें कुछ ज्ञात नहीं है। तिरहुत और जौनपुर का विस्तृत प्रामाणिक इतिहास मिलने पर ही इनके बारे में अपेक्षित जानकारी कदाचित् प्राप्त हो सकेगी।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर संक्षेप में 'कीर्त्तिलता' से संबंधित राजकुलों की ऐतिहासिक स्थिति इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है—

# काव्य भक्ति का रसायन

काकासाहेब कालेलकर

मेरे हिसाब से रवीन्द्रनाथ की काव्यकृति 'नैवेद्य' उनकी उत्कृष्ट कृतियों से एक है। इस कृति का भक्तिमाधुर्य उनकी गीतांजलि से लेशमात्र कम नहीं है। स्वय रवीन्द्रनाथ ने अपनी अंग्रेजी गीताजलि में नैवेद्य में से अनेकानेक गीत लिये हैं।

हम जब स्वादिष्ट, पौष्टिक और रोचक भोजन तयार करते हैं तब उसे प्रथम भगवान को नैवेद्य के रूपमें अर्पण करते हैं। और बाद में ऐसी अर्पण-क्रिया से पवित्र हुए अन्न को हम ईश्वर का प्रसाद समझ कर स्वीकार करते हैं, प्रसन्नता से उसका सेवन करते हैं। इस तरह की देने की और पाने की दोनों क्रिया उन्नतिकर होती है ( ददाति प्रतिगृह्णाति न अन्यथा एषा प्रसीदति )। जब हम जीवन-देवता को इष्ट चीज अर्पण करते हैं और फिर उसी चीज को प्रसाद के रूप में स्वीकार करते हैं तभी जीवन देवता प्रसन्न होते हैं, उसकी प्रसन्नता का दूसरा उपाय है नहीं।

रवीन्द्रनाथ ने अपने देवर्षि पिता की प्रेरणा से जो काव्यमय चिंतन किया उसी में से नैवेद्यरूपी यह गीतशतक निर्माण हुआ है। इनमें अधिकाश तो सुनीत ( सानेट ) ही हैं। ईशभक्ति और देशभक्ति से लबालब भरे हुए ये नैवेद्यगीत सचमुच एक मेवा-मिठाई है। नये ढग के चिंतन, प्रार्थना, साधना, उपासना, भक्ति और आत्मनिवेदन इन सबका यह एक स्वादिष्ट, सुगंधित और पौष्टिक रसायन है, इसमें कोई शक नहीं है। रविबाबू की सब कृतियों में रमणीयता तो भरी हुई होती ही है। उनमें भी इस नैवेद्य की रुचि कुछ अनोखी है।

जिस कालखड में ये गीत लिखे गये वह काल भारतीय-सस्कृति के लिये युगांतर का काल था। १९वीं शताब्दी का अस्त हुआ है और २०वीं शताब्दी का पूरा प्रारंभ नहीं हुआ है, ऐसे सधिकाल में इन गीतों की निर्मिति हुई है।

जब पोर्तुगीज, फ्रेंच और अंग्रेज आदि गोरों के पाँव का स्पर्श इस देश को हुआ तब हमारा समाज ठीक ठीक अधोगति को पहुचा हुआ था। 'जागतिक परिस्थिति का तनिक भी परिचय नहीं। अखिल भारतीय परिस्थिति का भी यथार्थ, पूरा और अद्यतन आकलन नहीं, राष्ट्रीय-सगठन के लिए परम आवश्यक ऐसी परस्पर आत्मीयता भी नहीं और राजकीय सामर्थ्य का तो पूरा दिवाला निकला हुआ'—ऐसी स्थिति थी वह। इन सब बातों का बड़ा दुःख तो था ही, लेकिन इससे भी बड़ा दुःख यह था कि इस राष्ट्र की अपनी आत्मा ही खायी हुयी थी। उच्चवर्गीय लोग स्वय पुरुषार्थहीन होते हुए भी निचले स्तर के लोगों को अपने

काबू में दबाकर रखते थे। और मानते थे और कहते थे कि 'ऐसा करने में ही धर्म का पालन है'।

इसके विरुद्ध, पश्चिम के लोग अपनी जानकारी के और संगठन कौशल के बल पर हम लोगों को अपने काबूमें रखते थे। और जिस तरह चूहा सोते हुए आदमी को बड़ी खूबीसे काट कर फूँक फूँक कर उसका रक्त चूसता है, इसी तरह ये गोरे लोग देश का सत्त्व लूट रहे थे। इतना करके भी उनका दावा यह था कि "आप लोगों की अपेक्षा हम लोगों को नैतिक सद्गुणों की श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध है, इसलिये अगर आपको अपनी उन्नति कर लेनी है तो हमारा शिष्यत्व आपको मंजूर करना ही होगा"। हम लोगों में से एक वर्ग को पश्चिम के लोगों का यह तर्क और उनकी धारणा मान्य थी। 'अपनों की और अपनी संस्कृति की निंदा करना और पश्चिम की भक्ति करना' इतना ही वे जानते थे। दूसरा वर्ग इसके विपरीत, अंधे अभिमान में संतुष्ट रहता था। और कहता था कि "दैव से हम पराधीन हुये हैं सो बात अलग। लेकिन संस्कृति तो हमारी ही सर्वश्रेष्ठ है। इन परदेशी लोगों की संस्कृति हीन है, भ्रष्ट है"। यह मिजाजखोरी कितनी पोली थी यह सिद्ध करने के लिये हमारी गुलामी ही बस थी। हमारा सारा घमंड हास्यास्पद लगता था। ऐसी विषम परिस्थिति में देशके थोड़े विचारशील नेताओं ने इस बातका चिंतन किया कि जिस भारतीय संस्कृति के हम वारिस हैं उसमें सचमुच श्रेष्ठ वस्तु कौनसी है जिसे हमें प्राणपन से संभालना ही होगा। इन नेताओं ने धर्मसंस्करण, सामाजिक सुधार, राष्ट्रीय जन-जाग्रति, शिक्षा का प्रचार और उद्योग-धंधों का पुनरुज्जीवन आदि बातों पर खास ध्यान दिया। एक बाजू उन्होंने जनता का आत्मविश्वास बढाया और दूसरी बाजू उग्र आत्मनिरीक्षण किया। नम्रता और श्रद्धा के बल पर उन्होंने नवयुग का प्रारंभ किया। आत्मशुद्धि और आत्मश्रद्धा के इस युग का प्रारंभ बंगाल में राजा राममोहन राय ने किया। धर्मसंस्करण के हेतु उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। उस जमाने के नेताओं ने सामाजिक सुधार के अनेक कार्यक्रम शुरू किये। और लोकशिक्षण के द्वारा लोकस्थिति सुधारने के व्रत का अंगीकार किया।

राजा राममोहन राय से लेकर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर तक के इन नेताओं ने जो राष्ट्र-हित-चिंतन किया और देश में जो नयी प्राणप्रतिष्ठा की उसका विरसा रवीन्द्रनाथ को मिला था। इसलिये बचपन में ही उनमें शुद्ध दृष्टि और हृदय की उदारता पायी जाती है।

बचपन में ही माता का वियोग होने से रवीन्द्रनाथ की परवरिश उनके पिता को ही करनी पड़ी थी। पिता के साथ हिमालय की यात्रा करने से उन्हें प्रकृति माता के सौंदर्य का भव्य दर्शन हुआ था। पिता के धर्म प्रवचन ध्यान से सुनने के कारण उन्हें आत्मचिंतन की दिशा

नैवेद्य के उत्तरार्ध में रविबाबू के राष्ट्र-भक्ति-प्रेरित अनेकानेक प्रख्यात गीत हैं। लेकिन उनकी राष्ट्र-भक्ति अभिमान मूलक अथवा राजनैतिक नहीं है। वह है सांस्कृतिक और आध्यात्मिक। मानव संस्कृति की सर्वोच्च सिद्धि उन्हें भारत के अध्यात्म में दीख पड़ी। और इसी लिये बंग-प्रदेश, भारत भूमि, अखिल मानवता, और इस विश्व का जीवनस्वामी इन सब में वे अभेद का अनुभव करते हैं। और हमें भी उस अभेद के साथ एकरूप होने को सिखाते हैं।

स्वराज्य के आंदोलन के दिनों में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये जब हमारी कारावास साधना चल रही थी तब मैंने इस नैवेद्य का प्रथम आस्वाद लिया, उतने-भर से तृप्ति नहीं हुयी। शास्त्रों की भी आज्ञा है कि मिष्टान्न अकेले नहीं खाना चाहिये। इष्टों को और स्वकीयों को साथ लेकर ही खाना चाहिये ( इष्टैः सह भुज्यताम् )। इसलिये बैठे बैठे अधिकांश गीतों का मराठी में अनुवाद किया और जैसा सूझा वैसा इन गीतों का रस ग्रहण भी लिखवाया। जेल से बाहर आने पर अनेक राष्ट्रकार्यों में फँस गया। और नैवेद्य की सारी मेहनत एक बाजू पर रह गयी।

आगे जाकर जब राष्ट्र ने रवीन्द्र-जन्म-शताब्दी हेतु रवीन्द्र साहित्य चिंतन का द्वादश मासिक-महोत्सव शुरू किया तब उसमें अपनी श्रद्धांजलि के रूप में नैवेद्य का विवरण हाथ में ले लिया और उसे पूरा किया। इस गद्य अनुवाद में रवीन्द्र की लोकोत्तर गीत माधुरी कहाँ से आ सकती है? कविवर ने जब अपने गीतों का अंग्रेजी में अनुवाद किया तब उन्होंने उसके लिये 'लयबद्ध गद्य शैली' चलायी। उसके लिये भी भाषा सिद्धि की आवश्यकता होती है।

लेकिन एक बड़ी सहूलियत हमारे पास है। हमारी सब भारतीय भाषायें संस्कृत परिवार की हैं। किसी भी भाषा का साहित्य अगर नागरी लिपि में लिखा गया तो काफी हदतक सबके लिये सुबोध बनता है। इसमें भी सब प्रदेशों के संत साहित्य की परिभाषा एक सी है। इसलिये नागरी में लिप्यंतर होते ही सब तरह के भारतीय साहित्य बिलकुल नजदीक आ जाते हैं। यह सब लाभ देख कर इस किताब में रविबाबू के मूल बंगाली गीत नागरी लिपि में देने का निश्चय किया। अनुवाद और रसग्रहण पढ़ने के बाद मूल बंगाली पढ़ने-समझने की कोशिश अगर की जाय तो वह आनंददायी साबित होगी। और कविहृदयों को तो रविहृदय को गले लगाने का संतोष और आह्लाद मिलेगा।[१]

---

१. रवीन्द्रनाथ के विख्यात काव्य संग्रह 'नैवेद्य' के मराठी अनुवाद और रसग्रहण के लिये लिखी हुयी प्रस्तावना का लेखक द्वारा किया गया हिंदी अनुवाद।

# बंगला प्रेमाख्यानक काव्यधारा

शालिग्राम गुप्त

ईसवी सन् की १६वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश से बंगला साहित्य में लौकिक प्रेम कहानी को लेकर रचित प्रणय गाथाओं का परिचय मिलने लगता है। यद्यपि इन काव्यों का रचनाकाल गाथा काव्यों के उत्पत्तिकाल का परवर्ती है यो भी संख्या की दृष्टि से गाथा काव्यधारा में प्रणय गाथाओं का प्रमुख स्थान है। १७वीं-१८वीं शताब्दी में अराकान राजसभा के मुसलमान कवियों द्वारा लौकिक प्रेम कहानी को लेकर काव्य रचना करने पर भी, इन समस्त काव्य-कहानियों के पात्र एवं पात्रियाँ आभिजात वर्ग के हैं। किन्तु साधारण, निम्न एवं मध्य वर्गीय अथवा कृषक समाज के नर नारी जो साहित्य में स्थान पा सके हैं अथवा जिनकी तुच्छ प्रणय लीला कवि के काव्य में महिमा मंडित होकर स्थान पा सकी है, उन समस्त प्रणय गाथाओं के रचयिता ग्रामकवि ही हैं।

परोक्ष रूप में तो राजा लक्ष्मणसेन ( ११वीं सदी ) के सभारत्न महाकवि जयदेव द्वारा रचित 'गीत गोविन्द' से ही बंगाल देश में सर्वप्रथम प्रणय (गीति) काव्य का सूत्रपात माना जा सकता है। बंगला वैष्णव काव्य में प्रणयलीला ने प्रमुख स्थान प्राप्त किया है। किन्तु यह समस्त काव्य-साहित्य कृष्णलीला गीत के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। प्रणयलीला घटित साधारण कहानी भी राधा-कृष्ण नामांकित कर रचने की प्रवृत्ति से प्राचीन कविगण द्वारा समाज शासन को कौशल पूर्वक चलाने की चेष्टा ही प्रकट होती है। राधा-कृष्ण नाम का कवच धारण करके ही ये सभी रचनायें सफल समालोचक की दृष्टि से उद्धार पा सकी हैं। किन्तु ग्रामीण कवि द्वारा रचित साधारण नर नारी की अबाध प्रणय कहानी वर्णित होने पर वह अधिकांश क्षेत्रों में कुरुचि व कुदृष्टान्तर न पा सकी। जिन अनेक प्रणय गाथाओं में सामान्य अश्लीलतापूर्ण कुरुचि को हम स्पष्ट रूप से पाते हैं, वे अभिजात साहित्य जनित प्रभाव के कारण ही कहे जा सकते हैं। प्रणय गाथायें अधिकांश क्षेत्रों में एकनिष्ठ प्रेम की मर्यादा पर प्रतिष्ठित होकर समाज में सुदृष्टान्त स्थापन के उदाहरण स्वरूप ही उपस्थित हुई हैं। इसी कारण इन समस्त प्रणय गाथाओं के प्रचार द्वारा जनसमाज के स्वेच्छाचारी हो जाने की कोई सम्भावना नहीं दीखती। वस्तुतः प्रणय गाथाओं में अन्तर्निहित मानविक आवेदन ही इन सबको जनप्रिय कर सकी है।

लौकिक प्रणय गाथायें अधिकांश में पूर्व वंग से ही संग्रहीत एवं वहाँ के ग्रामकवियों द्वारा समय-समय पर प्रेमकाव्य के रूप में प्रकाशित की गई हैं। पश्चिम वंग में प्रचलित विशुद्ध

प्रणय गाथाओं के मध्य हम पाते हैं स्वरूप कृत 'दामिनी चरित'। जिसकी रचना कवि ने १७९६ ई० में की थी। यह गाथा विशुद्ध प्रणय गाथा होने पर भी बारहमासा के माध्यम से वर्णित होने के कारण बारहमासी गाथा के अन्तर्गत आती है। (प्रस्तुत रचना डा० सुकुमार सेन की शोध पूर्ण टिप्पणी के साथ 'विश्वभारती पत्रिका' (बंगला), वर्ष ४, संख्या २ में प्रकाशित हो चुकी है।) पश्चिम बंग में प्रचलित एक और विशुद्ध प्रणय गाथा 'शशिसेना' या 'सखीसेना' है। वर्द्धमान निवासी वधरशोद्भव कविभूषण फकीर राम ने १६७३ ई० में इस गाथा को लिपिबद्ध किया था। १८७८ ई० के आसपास मो० आरिफ ने 'लालमोन की कथा' के नाम से शशिमुखी की कथा का इस्लामी रूप प्रस्तुत किया था। इसके पश्चात् २०वीं शती के प्रथम चतुर्थांश में मोहम्मद कोरबान अली एवं देराजतुल्लाह उर्फ आबदुस सत्तार ने क्रमश 'रे मानिक ओ सखी सोना' एवं 'शशिमुखी जनम सखी' की रचना कर शशिमुखी अथवा शशिसेना के कथा रूप में वृद्धि की। इनके अतिरिक्त पश्चिम बंग में प्रचलित अन्य प्रणय गाथायें हैं—खलील कृत 'चन्द्रमुखी', सैयद हामजा कृत 'मधुमालती' एवं हिन्दू कवि द्विज पशुपति कृत 'चन्द्रावलि'। उपर्युक्त ग्रन्थों के सम्बन्ध में आगे सविस्तार विचार करेंगे।

काल क्रमानुसार वस्तुत ई० सन् १३८९ और १४०८ के बीच सर्व प्रथम पूर्व बंगाल में फारसी प्रेमाख्यानक साहित्य और उसकी परम्परा से प्रभावित हो शाह मुहम्मद सगीर ने 'यूसुफ जालिखा' की रचना की थी। तत्पश्चात् १६वीं शती के प्रथम चतुर्थांश से लोक प्रचलित प्रेम गाथाओं के आधार पर रचित हिन्दी प्रेमाख्यानकों की भाँति बंगाल में भी इनके विकास का क्रम आरम्भ होता है। यद्यपि प्रेमाख्यानकों का उपयोग धर्म को भी दृष्टि में रखकर किया जाता रहा। इस कोटि की प्रचलित लोक गाथाओं में 'विद्यासुन्दर' की गाथा अत्यन्त महत्वपूर्ण कही जा सकती है। 'पुरुष खोजना है विद्या और नारी चाहती है सौन्दर्य' इसी रूपक की भित्ति पर निर्मित विद्या और सुन्दर के प्रेमाख्यान ने लोक मानस को इतना अधिक आकृष्ट किया कि प्रस्तुत रूपक की भित्ति पर अनेक कवियों ने समय-समय पर काव्य ग्रन्थों की सृष्टि की। १६ वीं शती पूर्वार्द्ध में प्रथम साबिरिद खान ने 'विद्यासुन्दर' (१५१७-५० ई० के मध्य) की रचना की। फिर तो १८ वीं शती तक क्रमश द्विज श्रीधर, गोविंद दास, कृष्णराम और भारतचन्द्र राय गुणाकर आदि द्वारा रचित क्रमश 'विद्यासुन्दर' काव्य का उल्लेख मिलता है। यद्यपि भारतचन्द्र द्वारा रचित 'विद्यासुन्दर' ही अत्यधिक लोकप्रिय हो सका। द्विज श्रीधर कविराज ने गौड़ सुल्तान नुसरत शाह के पुत्र युवराज फिरूज शाह के चित्त विनोद के लिये 'विद्यासुन्दर' की रचना की थी। डा० सुकुमार सेन के मतानुसार जौनपुर के होसेन

शाह शर्की के अनुचर कवियों द्वारा यह प्रणय कहानी बंगाल में प्रचलित हुई थी। 'विद्यासुन्दर' के रचयिताओं में प्रथम साबिरिद खान को छोड़कर-शेष सभी हिन्दू कवि थे। कालान्तर में भी किसी अन्य मुस्लिम कवि ने 'विद्या और सुन्दर' की लौकिक प्रेमगाथा के माध्यम से (परोक्ष रूप में देवी कालिका के माहात्म्य को प्रस्तुत करने वाली) किसी प्रेमाख्यानक काव्य की रचना नहीं की।

साबिरिद खान की दूसरी रचना 'हानिफा और कायरापरी' का भी उल्लेख मिलता है, जिसका रचनाकाल 'विद्यासुन्दर' के रचनाकाल के आसपास ही माना जा सकता है। इस प्रकार लोक प्रचलित प्रेम कथाओं एवं गाथाओं को वंगला भाषा में प्रेमाख्यानक काव्यरूप देने का श्रेय प्रथम मुस्लिम कवि साबिरिद खान को ही है। इस कवि के पश्चात् फ़ारसी प्रेमाख्यानक साहित्य और परम्परा से प्रभावित हो दौलत उजीर बहराम खान और दोना गाजी ने क्रमशः 'लायली-मजनू' (रचनाकाल १४४५-५३ ई० के मध्य) और 'सयफुल मुलुक बदिउज्जमाल' (१६ वीं शती) की रचना की। फिर तो मुहम्मद कबीर ने ई० सन् १५८८ में 'मनोहर-मधुमालती' और काजी दौलत ने ई० सन् १६२२ से १६३२ के बीच 'लोर चन्द्रानी और सती मयना' की रचना की। काजी दौलत की एक मात्र उपर्युक्त रचना ही प्राप्त है और वह भी उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अधूरी ही। काजी दौलत की अधूरी रचना को लगभग ३० वर्ष बाद अलाउल ने १६५९ ई० में पूरा किया था। अलाउल रचित सात ग्रंथ एवं तेरह स्फुट पद अब तक प्रकाश में आ सके हैं, जिनमें 'पद्मावती' ही सर्व प्रमुख और प्रसिद्ध है, जो कवि द्वारा जायसी के 'पद्मावत' का वंगला में स्वतंत्र अनुवाद के रूप में है।

काजी दौलत ने 'लोर चन्द्रानी ओ सती मयना' की रचना में साधन कृत 'मैनासत' को आधार मानते हुए पूर्ण स्वतंत्रता के साथ अपने ढंग से कथा का निर्माण कर अपनी काव्य प्रतिभा का स्थल-स्थल पर परिचय दिया है। साथ ही अपने ग्रंथ में कवि ने सादर साधन कवि का उल्लेख भी किया है। उपर्युक्त उल्लेख के अनुसार मुहम्मद कबीर ही वंगाल के सूफी कवियों में सर्वप्रथम आते हैं जिन्होंने ई० सन् १५४५ में रचित मंझन की 'मधुमालती' के ही आदर्श पर देश भाषा (वंगला) के पाचाली छंद में 'मनोहर-मधुमालती' की रचना १५८८ ई० में की थी। कवि ने अपने काव्य का परिचय देते हुए बतलाया है कि यह सुन्दर कथा पहले हिदी में थी और उसे उन्होंने देश भाषा (वंगला) का रूप दिया। हिदी के सूफी प्रेमाख्यानों की समस्त विशेषतायें एवं प्रवृत्तियाँ वंगला प्रेमाख्यानकों में पाई जाती हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कथानक संगठन, प्रेम निरूपण, शील निरूपण एवं शैली आदि की

दृष्टि से बंगाली मुसलमान कवियों ने अपनी वशिष्टता का स्थल-स्थल पर परिचय दिया है। इसी के साथ १७ वीं शती के चार अन्य कवियों का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है, जिनमें प्रथम हैं रज्जाक नदन अब्दुल हाकिम, जिन्होंने 'इउसुफ जोलेखा' ( लि० काल० १८४८ ई० ) की रचना की। तत्पश्चात् हैं रोसाङ्ग ( आराकान-राज्य ) के आमात्य मागन ठाकुर, जिन्होंने १६५८ ई० में 'चन्द्रावती' की रचना की थी। इन्हीं मागन ठाकुर के सम्पर्क में आने पर अलाउल का भाग्योदय हुआ था। अलाउल ने मागन ठाकुर की सभा के सभासद रहते हुए उन्हीं के आदेश पर हिन्दुस्तानी भाषा से बंगला पयार छंद में १६५१ ई० में 'पद्मावती' की रचना की थी। मागन ठाकुर की अप्राप्त काव्य रचना के लगभग २०० वर्ष बाद अब्दुल रहिम ने १९ वीं शती में 'रूपराज ओ कथा चन्द्रावती' की रचना की। १७ वीं शती के तृतीय कवि थे मगल चाँद, जिन्होंने १६६५ ई० में 'शाह जालाल-मधुमाला' की रचना की। इस सदी के अंतिम प्रसिद्ध कवि बिरहिम अथवा इब्राहिम हैं—जिन्होंने दोना गाजी एवं अलाउल की परम्परा में 'सयफुल मुलुक बदिउज्जमाल' की रचना प्रस्तुत की। इस काव्य परम्परा की चतुर्थ व अंतिम रचना मुंशी मालेक मुहम्मद ने १८२८ ई० में पूर्ण की थी। प्रस्तुत रचना की कथा का प्रारम्भिक अंश द्विजराम की 'मृगावती चरित' की कथा से सामान्य रूप से साम्य रखता है।

कुतुबन द्वारा ई० सन् १५०३ में रचित 'मृगावती' की भाँति बंगाल के २ हिन्दू और ८ मुसलमान कवियों ने १७ वीं से २० वीं शती के प्रथम चतुर्थांश के बीच काव्य रचनाये कीं। प्रथम दोनों हिन्दू कवियों द्विज पशुपति कृत 'चन्द्रावलि' ( लि० काल १८६१ ई० ) और द्विजराम कृत 'चाद्मापरी उपाख्यान वा मृगावती चरित्र' का रचनाकाल अनुमानत ई० सन् की १८वीं शताब्दी का अंतिम चतुर्थांश माना जा सकता है। 'चन्द्रावलि' से द्विज पशुपति का कोई परिचय नहीं मिलता। प्रस्तुत उपलब्ध आख्यानक काव्य में कनकापुर के राजा अश्वकेतु के पुत्र विश्वकेतु और रत्नापुर के राजा चन्द्रसेन की पाँच कन्याओं में से सबसे छोटी चन्द्रावलि के प्रेम की गाथा कही गई है। इस काव्य की सर्व प्रमुख विशेषता यह है कि सूफी मत या सूफी काव्य वातावरण के प्रभाव से यह नितान्त मुक्त है। दूसरे हिन्दू कवि द्विजराम थे। इन्हें बंगाली कवि न कह कर असमी कवि कहना अधिक उचित होगा। इनकी रचना मृगावती चरित्र' प्राचीन असमिया अथवा कामरूपी उपभाषा में है। सर्व प्रथम स्व० हेमचद्र गोस्वामी ने 'असमिया पुथिर विवरण' के पृष्ठ १५२-१५३ पर 'मृगावती चरित्र' ( लि० काल १७९० ई० ) नामक हस्तलिखित ग्रंथ का विवरण प्रस्तुत किया था। इसके साथ ही श्री गोस्वामी ने 'असमिया साहित्येर चानेकि' ( चयनिका ) के

खंड २, भाग ३ के पृष्ठ ९३५-९५१ पर 'मृगावती चरित्र' के मध्यवर्ती अंश के थोड़े से भाग को प्रकाशित भी किया था। प्रस्तुत उपाख्यान में कुंडिल नगरी के राजा अमीरशाह के पुत्र कुमार मालिक जादा और रोकाम नगर की शाह परी मृगावती के पुनर्मिलन की कथा वर्णित है। द्विजराम के प्रस्तुत उपाख्यान के कथारूप एवं पात्रों के मुस्लिम नाम को देखकर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि कवि ने अपने किसी पूर्ववर्ती मुस्लिम कवि के 'मृगावती' उपाख्यान की कथावस्तु के आधार पर ही अपने उपाख्यान की सृष्टि की होगी। अन्यथा वह काव्य में जगह जगह मुस्लिम नामधारी पात्रों द्वारा हिन्दू देवी देवताओं का स्मरण न कराता।

मुसलमान कवियों द्वारा रचित मृगावती आख्यान की परम्परा में सर्वप्रथम कवि हैं सम्भवतः सिलहट निवासी खलील, जिन्होंने १७३२-१७३३ ई० के लगभग श्रीहट्ट नागरी लिपि में 'चन्द्रमुखी' की रचना की थी। उपर्युक्त रचना की कहानी का उपक्रम 'मृगावती' आख्यायिका के समान ही किन्तु छोटे रूप में है। प्रस्तुत उपलब्ध आख्यायिका में मिछिर नगर के राजा पुरुवेश्वर के पुत्र गुलमुनाहर और गंधर्व नगरी के राजा फीरूज शाह और रानी महादेवी की मृग रूपणी कन्या चन्द्रमुखी के पुनर्मिलन की कथा वर्णित है। प्रस्तुत रचना श्रीहट्ट निवासी मुंशी अब्दुर रहमान मियाँ द्वारा १९१७ ई० में प्रकाशित की गई थी। १८वीं शती के मध्य तक 'चन्द्रमुखी' गाथा का बंगाल में खूब प्रचार हो चला था। फलस्वरूप उसकी लोकप्रियता से प्रभावित हो उसकी कथा का इस्लामी रूपान्तर १९वीं शती में मुहम्मद अकबर ने 'गुल सनौवर' नामसे रच कर प्रस्तुत किया। 'मृगावती' नामक तीसरे काव्य के रचयिता मुहम्मद मुकिम हैं, जिनका काव्यकाल १७६०-१७८० ई० माना जाता है। प्रस्तुत कवि की रचना अप्राप्य हैं, केवल उल्लेखमात्र मिलता है। १९वीं शती में मुहम्मद आबेद और करीमुल्लाह ने क्रमशः 'चन्द्रावली' और 'यामिनी भान' नाम से मृगावती आख्यान को प्रस्तुत किया। दुःख है कि उपर्युक्त दोनों कवियों तथा उनके काव्यग्रन्थों के बारे में कुछ विशेष विवरण प्राप्त नहीं। इसी सदी के तीसरे कविद्वय हैं—मीरजापुर निवासी एबादतुल्ला और सेबादतुल्ला, जिन्होंने १८४५ ई० में 'मृगावती' आख्यान का गीतिप्रधान अनुवाद 'कुरंग भानु' नाम से प्रस्तुत किया था। २०वीं शती के प्रथम चतुर्थांश के शेष दो कवि हैं शाफातुल्ला सरकार और मुंशी महम्मद खातेर, जिन्होंने क्रमशः १९१२ ई० और १९१६ ई० में 'विश्वकेतु चन्द्रावली' और 'मृगावती यामिनी भान ओ रुक्मनि परी' नाम से अपनी अपनी रचनायें प्रकाशित कराईं। ये दोनों ही प्रकाशित आख्यानक काव्य उपलब्ध हैं। किन्तु दोनों ही कवियों ने रचना काल का काव्य में कोई उल्लेख नहीं किया है। अनुमानतः ये दोनों रचनायें १९ वीं

शती के अंतिम चतुर्थांश की मानी जा सकती हैं। 'विश्वकेतु चन्द्रावली' आख्यान में कल्का नगर के राजा ऐश्वकेतु के पुत्र विश्वकेतु और रत्नापुर के राजा चन्द्रसेन की पांच पुत्रियों में से सबसे छोटी चन्द्रावलि की प्रेम कथा कही गई है। चेल्ट सरकार के पुत्र शाफातुल्ला सरकार चाड़ा धान्धा, जिला कोचविहार के निवासी थे। मुंशी महम्मद खातेर ने केवल अपने को गोविन्दपुर का निवासी बतलाया है। इसके अतिरिक्त कवि का कोई और परिचय नहीं प्राप्त होता। 'मृगावती यामिनी भान ओ रुकमनि परी' में बनारस के राजा जगतचन्द राय और रानी भवानी के पुत्र यामिनी भान तथा दक्षिण दिशा की ओर स्थित काँचिपुर देश के राजा रूपचंद राय की पुत्री मृगावती के पुनर्मिलन की गाथा वर्णित है।

'मधुमालती और मनोहर' के प्रेमाख्यान को बंगाल में १० मुसलमान कवियों ने अपने काव्य का आश्रय बनाया है। मुहम्मद कबीर कृत 'मनोहर मधुमालती' और मंगल चाँद कृत 'शाह जालाल मधुमाल' का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इस परम्परा के तृतीय कवि हैं उत्तर बंग निवासी शाकेर मामूद, जिन्होंने अपनी २० वर्ष की अवस्था में ई० सन् १७८१ में 'मधुमाला-मनोहर' की रचना की थी। शाकेर मामूद की रचना के ७-८ वर्ष बाद सैयद हामजा ने सन् १७८८-८९ में 'मनुहर-मधुमालती' आख्यानक काव्य की सृष्टि की। प्रस्तुत आख्यान में किकर नगरी के राजा सूर्यभान और राजकुमार मनुहर के साथ रूपमंजरी की पुत्री मालती के परिणय की कथा सविस्तार वर्णित है। सैयद हामजा श्री भारतचन्द्र की जन्मभूमि वदना ग्राम से चार मील दूर बसंतपुर ग्राम में निवास करते थे। उपर्युक्त ग्रन्थ के आधार पर श्री गोविन्दचन्द्र भट्टाचार्य ने 'मधुमालती उपाख्यान' की रचना ई० सन् १८४५-४६ में की। १९ वीं शती में रचित इस उपाख्यानक काव्य के अतिरिक्त चार अन्य मुसलमान कवियों ने 'मधुमालती' की कथा को अपने रंग में रंग कर अपने काव्य का विषय बनाया था, ये ये क्रमश जोनेद आली, जिन्होंने 'मधुमाला' ( 'मदनकुमार राजकन्या मधुमाल', रचनाकाल १८९४ ई० ) दूसरे नूर महम्मद, जिन्होंने 'मदनकुमार-मधुमाला' और तीसरे जासिमुद्दिन, जिन्होंने 'मधुमाला' और चौथे थे हाय हाय पाथार ग्राम, जिला जलपाइगुड़ि निवासी मुंशी महाम्मद इद्रिछ, जिन्होंने 'शामसुन्दर परिमाला' नाम से प्रेमाख्यानों की रचनायें की। असमिया में भी 'मधुमालती' नाम से एक अज्ञात कवि की कुछ खंडित रचना प्राप्त होती है। जिसका रचना काल अज्ञात है। अनुमानत इसकी रचना कवि द्विजराम की 'मृगनयनी चरित्र' के पश्चात् अर्थात् १८ वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुई होगी।

हिन्दी के सूफी कवि उसमान की रचना 'चित्रावली' की भाँति, जिसकी रचना कवि ने १६१३ ई० में की थी, बंगला के कवि मुहम्मद खुहर द्वारा १८४५ ई० के आसपास 'सुजान

चित्रवली' की रचना करने का उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत आख्यानक काव्य अप्राप्य होने के कारण कवि और काव्य के विषय में कुछ विस्तार से कहना सम्भव नहीं है।

हिन्दी के लोक प्रचलित प्रेमाख्यान 'कामरूप कुमार और कामलता' के आधार पर सर्वप्रथम हिन्दी में सम्भवतः जान कवि की रचना 'कथा कामलता' प्राप्त होती है, जिसकी रचना कवि ने १६२१ ई० में की थी। प्रस्तुत आख्यान में हंसपुरी के राजा रसाल और सुन्दरपुरी की शासिका कामलता के प्रेम-विवाह की कथा वर्णित है। कालान्तर में ओरछा नरेश उदोत सिंह के आश्रित कवि हरि सेवक मिश्र ने ई० सन् १६९९-१७३५ के बीच 'कामरूप की कथा' प्रेमाख्यान की रचना की। जिसमें अयोध्या के महाराजा राजपति के पुत्र कामरूप और सिंहल द्वीप की राजकुमारी कामलता के पुनर्मिलन की प्रेमकथा वर्णित है। हरि सेवक मिश्र की उपर्युक्त रचना श्री गौरी शंकर द्विवेदी द्वारा १९६१ ई० में 'कामरूप-कथा महाकाव्य' नाम से सम्पादित एवं प्रकाशित की जा चुकी है। सम्भवतः उपर्युक्त हिन्दी प्रेमाख्यान परम्परा के आधार पर अथवा दखिक्नी काव्यधारा के अंतर्गत कवि तहसीनुद्दिन रचित 'कामरूप और कला' के आधार पर १८वीं शती में बंगाल के कवि मुहम्मद जीवन ने 'कामरूप कुमार और कुमारी कालाकाम' की तथा ई० सन १७६०-८० के बीच मुहम्मद मुकिम ने 'कालाकाम' प्रेमाख्यान की रचना की थी। यद्यपि आज दोनों ही काव्यग्रंथ अप्राप्य हैं, अतः इन काव्यों एवं काव्यकारों के बारे में कुछ अधिक कहने की स्थिति में हम नहीं हैं। असम के कविराज चक्रवर्ती कृत 'शकुन्तला' के अंतर्गत 'चन्द्रकेतु और कामकला' उपाख्यान की कथा सविस्तार वर्णित है। कवि एवं काव्य रचना काल के विषय में अधिक ज्ञात नहीं। उपाख्यान में रत्नावलीपुर के राजा चन्द्रकेतु एवं भद्रावती नगरी के राजा वीरसिंह और रानी रत्नावली की कन्या कामकला के मिलन की प्रेमकथा वर्णित है।

दक्खिनी काव्यधारा के अन्तर्गत १६४५ ई० में सनअती ने, जो सम्भवतः प्रथम कवि हैं, 'किस्सा बेनजीर' की रचना की थी। तत्पश्चात् हिन्दी आख्यानक काव्य की परम्परा में १९वीं शती में प्रेमकथा 'बेनजीर बदेरमुनीर' पर हमें दो समसामयिक कवियों की रचनायें उपलब्ध होती हैं। प्रथम है हिन्दू कवि धनपति अथवा धनूपति कृत 'सांगीत बदरेमुनार' रचनाकाल १८७१ ई०। और दूसरी है कवि इलाहीबख्श (उप० रमजान शेख) कृत 'खुरशेद-बेनजीर' रचनाकाल १८७५ ई०। सम्भवतः उपर्युक्त प्रेमाख्यान परम्परा से प्रभावित होकर १९वीं शती में बंगाल के दो मुसलमान कवियों प्रथम शेख कमरुद्दिन जालालसि, हबड़ा निवासी और दूसरे आजिमुल्ला खान ने 'बेनजीर बदर-ए-मुनीर' नामक आख्यान काव्य की रचना की।

ऊपर सक्षेप में वगाल के जिन कवियों और उनके द्वारा रचित जिन प्रेमाख्यानक काव्य ग्रथों की चर्चा की गई है उनसे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उपर्युक्त सभी मुसलमान कवि सूफी रहे होंगे और उनका किसी न किसी रूप में तत्कालीन हिन्दी सूफी काव्यधारा से परिचय अवश्य था। परिणाम स्वरूप वगाली मुसलमान कवियों द्वारा रचित विशुद्ध प्रेममूलक आख्यानकों पर निश्चय ही हिन्दी की प्रेमकथाओं का प्रभाव पड़ा है। फिर १७वीं-१८वीं शती मे पूर्व वगाल के सिलहट और चटगाँव अचल के मुसलमानों में हिन्दी मूलक आख्यानकों का व्यापक प्रचार एव प्रसार था। फलस्वरूप यहाँ के कवियों ने हिन्दी प्रेमकथाओं का उपयोग खुलकर अपनी आख्यायिका मूलक रचनाओं की सृष्टि के लिये किया। ई० सन् १५८८ मे मुहम्मद कबीर द्वारा रचित 'मनोहर-मधुमालती' से आरम्भ कर २०वीं शती के प्रथम चतुर्थांश तक हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यधारा का प्रभाव किसी न किसी रूप में वगाल में वर्तमान रहा है, जिसे वगाली मुसलमान कवियों ने स्वय भी अपनी रचनाओं में कहीं कहीं स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

इसी क्रम में १९वीं और २०वीं शती के प्रथम चतुर्थांश पर्यन्त पूर्व वगाल के कुछ अन्य मुसलमान ग्राम कवियों द्वारा स्थानीय किंवदन्तियों के ऊपर रग-चढ़ाकर छोटे बड़े जिन नाना प्रकार के गाथा काव्यों की रचनाये की गई हैं उनका भी उल्लेख सक्षेप में कर देना असगत न होगा। प्रस्तुत परम्परा के आख्यानक काव्यों में से कुछ में अलौकिक घटनाओं का समावेश कर एव कुछ को उत्तेजक वर्णनों के माध्यम से चित्ताकर्षक करके प्रस्तुत करने की कवियों ने सफल चेष्टा भी की है। काव्य सौन्दर्य विशेष न होने पर भी जो कहानियाँ विभिन्न अचलों में प्रचलित थीं, उन्हें इस साहित्य को पढ़कर हम सहज ही जान सकते हैं। इस कोटि के प्रकाशित अन्य २१ आख्यानक काव्यों की सूची अकारादि क्रम से इस प्रकार है— (१) अमय दुर्लभ—आछिमुद्दिन शाहा कृत, (२) अतुला सुन्दरी—मु० अकबर अली, (३) कमला—द्विज ईशान, (४) कमला मोनाजार—मुशी मफीजद्दिन, (५) कांचन माला ओ पिरक सौदागर—जिन्नात अली, (६) रूपचाँद सौदागर ओ काचन माला—मुहम्मद मुशी, (७) गहुर वादशा व धनेछापरी—सिकन्दर अली वेपारी, (८) जौहरि कुजर (रचना काल १८९४ ई०)—काजी नियामत अली, (९) तृष्णावती विराजगुरु—मोमिन उद्दिन, (१०) द्विज नदिनी (लिपिकाल १९०५ ई०)—आसद अली चौधुरी, (११) बेहुला लखिन्दर ओ चाँद सौदागर—मु० रहिमद्दिन अहमद, (१२) भेलुया सुन्दरी व अमीर साधु—मुशी मो० मोयज्जम अली, (१३) अमीर सौदागर ओ भेलुया सुन्दरी (र० का० १८७७ ई०)—आला हामिद, (१४) मालच कन्या (र० का० १९०१ ई०) शेख आयजुद्दिन, (१५) मालती

कुसुम माला व आलम सौदागर—महम्मद मुंशी ; (१६) लज्जावती ( र० का० १८९७ ई०)—आजहर अली ; (१७) शाह बीरबल चन्द्रभान ( र० का० १८७७ ई० )—अब्दुल गफ्फार ( गफूर ) ; (१८) शाहे एमरान चन्द्रवान व फूलमती परी ( र० का० १८८३ ई० )—मु० कमरुद्दिन अहमद ; (१९) शाम सोहागीर कथा—मो० महिउद्दिन अहमद ; (२०) सैदकुमार ( १८ वीं शती )—मुं उजीर अली ; (२१) स्वरूप रूपसी ( र० का० १८६९ ई० )—हयदर अली कृत ।

सहायक ग्रंथ सूची

१. चाहा परीर उपाख्यान वा मृगावती चरित्र—द्विजराम कृत, सं० डा० माहेश्वर नेओग ।

२. पूथी परिचिति—सम्पा० श्री अहमद शरीफ, ढाका विश्वविद्यालय ।

३. बंगला साहित्य का इतिहास—प्रथम खण्ड—अपरार्द्ध ( नवीन संस्करण १९६३ )—डा० सुकुमार सेन ।

४. विविध प्रकाशित बंगला आख्यानक काव्य ।

५. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण—( सन् १९००-१९५५ ई० ) खण्ड १-२—ना० प्र० सभा, काशी ।

# ग्रंथ समीक्षा

माध्यम का 'आंध्र विशेषांक'—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद। पृ० स—२५९ मूल्य पाँच रुपये।

कोई दो वर्ष पूर्व 'माध्यम' का 'केरल विशेषांक' निकला था। उसके बाद उसका यह 'आंध्र विशेषांक' प्रकाशित हुआ है। इस तरह के विशेषांकों की प्रकाशनयोजना के सबध में सम्पादकीय वक्तव्य में यह बात कही गई है कि इसका वास्तविक उद्देश्य हिन्दी भाषी लोगों को आन्तर भारतीय भाषा-साहित्य से परिचित कराना है जिससे "समीपदेशस्थजनप्रभाव" के सिद्धांत के अनुसार हिन्दी में आए हुए अन्य प्रभावों को वे लोग ठीक से समझ सकें और हिन्दी-विरोधी तत्वों द्वारा हिन्दी के विरुद्ध फैलाए गए भ्रम को रोक सकें। हिन्दी के लिए एक कवच तैयार करने का प्रश्न नहीं है, और न हिन्दी भाषी लोगों को परवर्ती साहित्य से परिचित कराने का यह प्रयास एक तरह की क्षमा याचना ही है। उद्देश्य और भी गहरा है, और समूचे राष्ट्रीय सदर्भ में देश में लिखे जाने वाले साहित्य तथा देश की 'भाषा-राजनीति' से वह आवश्यक रूप से जुड़ा हुआ है। 'माध्यम' इस उद्देश्य को पहचानता है और इस सबध में अपना उत्तरदायित्व भी समझता है, जैसा कि 'विशेषांक' की सम्पूर्ण योजना और उसमे समाविष्ट लेखों आदि से स्पष्ट हो जाएगा।

हिन्दी भाषा तथा अन्य भारतीय भाषाओं के पारस्परिक सबध के प्रश्न को साहित्यिक और गैर साहित्यिक दोनों स्तरों पर उठाया जा सकता है। गैर साहित्यिक धरातल पर हिन्दी के राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किए जाने का प्रश्न तथा देश की सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी की उपयोगिता (अथच अनिवार्यता ?) का प्रश्न, तथा इसी प्रकार के अन्य प्रश्न उठाए जा सकते हैं। किन्तु इन प्रश्नों के हल प्राप्त करने की दिशा में जिन सार्थक प्रयासों की आवश्यकता है, वे तभी सभव हो सकते हैं जब हम अपनी चारित्रिक शक्ति अथवा संस्कृति की अनिवार्यताओं को पहचानते हुए एक ऐसी 'दृष्टि' अपना सकें जो निर्णायक हो और साथ ही हमारी प्रेरणा का आधार भी। और यह काम साहित्यिक धरातल पर आगे बढ़ाया जा सकता है। इसी दृष्टि से 'आंध्र विशेषांक' के सबध मे कुछ कहना चाहूगा, जो विभिन्न लेखों में कही गई बातों के विश्लेषण तथा उनमे दिए गए तथ्यों पर आधारित हैं।

किसी भाषा और साहित्य में पाए जाने वाले प्रभावों के सबध में 'समीपदेशस्थजनप्रभाव' की बात ठीक है। वास्तव में किसी भाषा के प्रभावित होने का एक राष्ट्रीय सदर्भ होता है और उस भाषा विशेष के बोलने वाले लोगों की अपनी आवश्यकताओं का भी सदर्भ होता है। इसीलिए तेलुगु मात्र अन्य द्राविड भाषाओं से ही प्रभावित नहीं हुई। संस्कृत अंग्रेजी, हिन्दुस्तानी, अरबी, फारसी, फ्रेंच, पुर्तगाली तथा डच भाषाओं से भी प्रभावित हुई और इन विविध भाषाओं के अनेक शब्द तेलुगु भाषा कोश में समाविष्ट हो गए। भले ही अंग्रेजी और फारसी के शब्दों के अपनाए जाने की आवश्यकता, संस्कृत शब्दों के तेलुगु में अपनाए

जाने की आवश्यकता से भिन्न हो, किन्तु एक बात यह निर्विवाद है कि इस प्रकार की आवश्यकताएँ तेलुगुभाषी लोगों की बदलती हुई जीवन-स्थितियों, उनमें पाई जाने वाली जटिलताओं के कारण ही संभव हो सकीं। अरबों आदि का व्यापार, आंध्र के एक प्रदेश में मुसलमानों का शासन और फिर सारे के सारे प्रदेश में अंग्रेजों का शासन, ऐसी तमाम 'इन्स्टीट्यूशन' को जन्म दे गए कि जिनसे जीवन को नए आयाम मिले और उसकी जटिलताएँ बढ़ गईं। श्री कोन्चूरु गोपाल कृष्ण राव ने अपने लेख में स्वीकार किया है कि "एक जाति जिस तरह दूसरी जाति पर सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रभाव डालती है, उसी तरह एक भाषा भी दूसरी भाषा को प्रभावित करती है।" [ पृ० १५२ : तेलुगु पर उर्दू तथा फ़ारसी का प्रभाव ] वास्तव में "उसी तरह" शब्द निरर्थक है, क्योंकि भाषा संस्कृति और सामाजिक जीवन का परिणाम है। संस्कृति द्वारा प्रभाव ग्रहण करने और उसे आत्मसात् करने के संबंध में जो नियम लागू होता है वही नियम भाषा द्वारा भी बाह्य प्रभाव को ग्रहण करने के संबंध में लागू होता है। इसी नियम के अनुसार कोई संस्कृति अथवा भाषा नाना प्रभावों को ग्रहण करने पर भी अपना विशिष्ट स्वरूप नहीं खोती। दूसरी भाषाओं के शब्दों को कोई भाषा अपनी लिपि, विशिष्ट ध्वनि तथा व्याकरण आदि के नियमों के कारण उसी रूप में अथवा कुछ परिवर्तनों के रूप में स्वीकार कर लेती है। तेलुगु में संस्कृत शब्दों को अपनाते समय तेलुगु प्रत्यय इसीलिए लगाए गए।

संस्कृति और भाषा संबंधी उपर्युक्त नियम से एक बात और स्पष्ट होती है, और वह यह कि "किसी भी जीवित भाषा का न तो कोई समग्र कोश हो सकता है, न कोई समग्र व्याकरण"। [ पृ० १४७ : पाश्चात्य विद्वानों का तेलुगु को योगदान ]

चूंकि भाषा, संस्कृति और सामाजिक जीवन से अलग नहीं की जा सकती, इसीलिए आन्तर भारतीय भाषा साहित्य में पाई जाने वाली प्रवृत्तियाँ तथा विधाएँ भी काफी-कुछ समान हैं। स्वाधीनता की लड़ाई और प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन के प्रभाव तेलुगु तथा अन्य भाषाओं में भी हैं।

एक तथ्य का उल्लेख कथित योजना के उद्देश्य के संदर्भ में अपेक्षित है। वह यह कि राष्ट्रीय एकता की भावना से हिन्दी का प्रचार-प्रसार उचित और आवश्यक समझा गया था और हिन्दी प्रचार का काम गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों में से एक था [ पृ० २०८ : आंध्र में हिन्दी ; और पृ० २१८ : आंध्रों का हिन्दी को योगदान ] ; किन्तु इधर अब अगर हिन्दी का विरोध किया जा रहा है तो उसके दो संभावित कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि भारत की इन भाषाओं में लिखा जाने वाला साहित्य हमारे राष्ट्रीय संदर्भ से कट गया। किन्तु यह बिल्कुल गलत है। वास्तव में इसके माध्यम से ही हम अपनी चारित्रिक शक्ति को पहचानते हैं और राष्ट्रीय संदर्भ को ग्रहण कर पाते हैं। अतएव दूसरा कारण यह हो सकता है कि ग़ैर हिन्दी भाषी लोग अपनी जीविकोपार्जन की आवश्यकता के संदर्भ में हिन्दी के प्रति कुछ लोगों के अपनाए गए रवैये को देखकर— उदाहरण के लिए, 'हिन्दी प्यूरिटिनिज़्म'—एक

राजनीतिक षड्यन्त्र की कल्पना कर लें। संस्कृति और भाषा के संबंध में जो नियम लागू होता है और जिसके फलस्वरूप ये स्वाभाविक रूप से विकसित हो पाती हैं, उसका इस तरह की शुद्धीकरण की प्रवृत्ति के साथ विरोध दिखलाना जरूरी है। साहित्यिक स्तर पर विभिन्न भाषाओं का हिन्दी भाषा और साहित्य के साथ संबंध देखना और राष्ट्रीय संदर्भ को ग्रहण करना जरूरी है, और तभी एक सही दृष्टि पा लेने पर गैर साहित्यिक धरातल पर उठाए गए बहुत से प्रश्नों का समाधान हम संभवतः प्रस्तुत कर सकेंगे। इस दृष्टि से यह विशेषांक महत्त्वपूर्ण है, और इसीलिए ऐसे विशेषांकों का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

—धारीन्द्र कुमार वर्मा

जैन ग्रंथ भण्डार्स इन राजस्थान ( राजस्थान में जैन ग्रंथों के भण्डार )—लेखक डा० कस्तूरचंद कासलीवाल, एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री, प्रकाशक—श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी, महावीर भवन, जयपुर, १९६७ ई०। पृ० सं० ३७०, मूल्य १५ रुपये।

आलोच्य कृति राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पीएच० डी० के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध का प्रकाशित रूप है। पश्चिमी भारत और दक्षिण भारत में जैन शास्त्र भण्डार बहुत हैं। इन भण्डारों में बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामग्री संग्रहीत है। कई भण्डारों में तो ऐसे दुर्लभ ग्रंथ हैं जो अन्यत्र नहीं प्राप्त होते। जैसलमेर और पाटण के भण्डारों में तो अनेक ऐसे दुर्लभ ग्रंथ प्राप्त हुए हैं जिनसे हमारी साहित्य विषयक धारणाएं समृद्ध हुई हैं। प्रस्तुत कृति में राजस्थान के शतानिक जैन भण्डारों का परिचय दिया गया है। हमारे देश में शास्त्रलेखन और शास्त्र दान को बहुत महत्त्व दिया गया है, जैन सम्प्रदाय में तो इसको धर्म का एक अंग ही समझा गया है। ग्रंथ की प्रतिलिपि करना और दूसरों से करवाना बड़ा पुण्यकार्य समझा गया है। फलस्वरूप जैन कृतियाँ बहुत ही सुन्दर लिपि में लिखी मिलती हैं। अनेक कृतियों में मनोरम लघुचित्र भी मिलते हैं—इन्हीं के आधार पर 'जैन लिपि या जैन चित्रशैली' जैसे लिपि और चित्रशैली के विभाजक नाम भी चल रहे हैं। जैन मन्दिरों में या साधुओं के निवास स्थानों में प्राय ग्रंथों का अच्छा संग्रह बन जाता था। मंदिरों या ग्रंथालयों में से ग्रंथ बाहर ले जाने का नियम नहीं था—फलस्वरूप ये ग्रंथ सुरक्षित रहे और भण्डार समृद्ध होते गए। इस नियम का कड़ाई से पालन होता था, किसी जैन मंदिर में स्थित ग्रंथ भण्डार के द्वार पर शिला पर उत्कीर्ण इन शब्दों का लेखक को स्मरण है—'मंदिर से ग्रंथ देनेवाला और ले जानेवाला दोनों नरक में जायेंगे।' कई वर्ष पहले तक इन ग्रंथ भण्डारों में प्रवेश पाना कठिन था। इधर जैन समाज के प्रबुद्ध व्यक्तियों के प्रयास के फलस्वरूप यह कठिनाई दूर होती जा रही है। डा० कासलीवाल ने जैन भण्डारों में प्राप्त ग्रंथों की अनेक सूचियाँ प्रकाशित की हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में उन्होंने राजस्थान के भण्डारों में प्राप्त कृतियों का एक प्रकार से वर्गीकृत अध्ययन किया है। कृति में छ अध्याय हैं। पहले अध्याय में हस्तलिखित ग्रंथ से संबंधित नाना विषयों

की चर्चा है—यथा—ग्रंथ भण्डारों की स्थापना, साधुओं, भट्टारकों, यतियों, राजाओं तथा श्रावकों द्वारा भण्डारों की स्थापना में सहयोग, हस्तलिखित ग्रंथ लेखन में प्रयुक्त सामग्री, लिपिकारों की कुशलता, ग्रंथ भण्डारों की व्यवस्था इत्यादि। दूसरे अध्याय में अपने देश के ग्रन्थ भण्डारों का सामान्य परिचय दिया गया है। तीसरा अध्याय सबसे बड़ा है। उसमें राजस्थान के अजमेर, बीकानेर, जोधपुर, उदयपुर, कोटा डिवीजनों के प्रमुख जैन भण्डारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। इन भण्डारों में प्राप्त सामग्री का विषयों की दृष्टि से अध्याय चार में अध्ययन प्रस्तुत किया है। जैन ग्रंथ भण्डारों के महत्त्व पर पांचवें अध्याय में प्रकाश डाला गया है। शोधकर्ताओं के लिए प्रचुर सामग्री ग्रंथ भण्डारों में उपलब्ध है। इसमें से कुछ कृतियों का परिचय अध्याय छः में दिया गया है। प्राकृत-अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी के अनेक कवियों और नई कृतियों का परिचय दिया गया है। कृति के अंत में अनेक उपयोगी परिशिष्ट दिए गए हैं। मध्ययुग के साहित्य के शोधकर्ताओं को प्रस्तुत कृति से प्रेरणा मिलेगी और उनके लिए कृति उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

चांदायन (दाऊद विरचित प्रथम हिंदी सूफ़ी प्रेम-काव्य)—संपादक डा० माता प्रसाद गुप्त एम०, ए०, डी० लिट्०, निदेशक, क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा, प्रकाशक—रामजी गुप्त, प्रामाणिक प्रकाशन, ३५, लाजपत कुंज, सिविल लाइन्स, आगरा, १९६७, पृ० सं० ४४४, मूल्य २० रुपये।

'चंदायन' नाम से मुल्ला दाऊद की इस कृति का एक संस्करण पुरातत्त्ववेत्ता डा० परमेश्वरी लाल गुप्त ने कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित कराया था। उन्होंने कृति की हस्तलिखित प्रतियों की खोज का विवरण देते हुए कुछ क्षोभपूर्ण भाषा में सूचना दी थी कि अन्य विद्वान उनकी सामग्री का उपयोग कर रहे हैं। डा० माताप्रसाद जी गुप्त के संस्करण की प्रतीक्षा थी। प्रेमकथा की परंपरा में 'चांदायन' प्राचीनतम रचना है और इस परंपरा को समझने के लिए उसके प्रामाणिक संस्करण की आवश्यकता थी। गुप्त जी ने कृति के अध्ययन के इतिहास का संक्षेप में इस प्रकार उल्लेख किया है :—

'चांदायन' की फ़ारसी—अरबी में लिखी हुई कतिपय त्रुटित प्रतियों में बिखरे हुए ८० कडवकों को नागरी में लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास अब से सात-आठ वर्ष पूर्व इन पंक्तियों के लेखक ने किया था। इसके अनंतर क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ के तत्कालीन निदेशक डा० विश्वनाथ प्रसाद ने फ़ारसी में लिपिबद्ध भोपाल की एक प्रति के कडवकों को, जो प्रिंस आव वेल्स म्यूज़ियम बंबई में थी, नागरी में लिपिबद्ध किया था। ये दोनों प्रयास एक ही जिल्द में उक्त विद्यापीठ द्वारा १९६२ में चंदायन नाम से प्रकाशित हुए थे। तीन वर्षों के लगभग हुए डा० परमेश्वरी लाल गुप्त ने जोन राइलैण्डस लाइब्रेरी, मैनचेस्टर की एक प्राचीन प्रति, तथा अन्य कुछ नवीन संपादन सामग्री के साथ उक्त प्रतियों का भी उपयोग करते हुए जो मेरे और डा० विश्वनाथ प्रसाद द्वारा प्रस्तुत किए हुए पाठों में प्रयुक्त हो चुकी थीं, 'चंदायन' नाम से रचना का एक पूर्णतर पाठ प्रस्तुत किया। इन प्रयासों ने हिन्दी सूफ़ी प्रेमाख्यान

परपरा की प्रथम रचना के सबध में जहाँ विचारणीय सामग्री प्रस्तुत की, वहाँ रचना के एक ऐसे आलोचनात्मक सस्करण के अभाव की ओर भी निर्देश किया जिसको रचना और उसकी परपरा के अध्ययन के लिए एक अधिक निश्चयपूर्ण आधार बनाया जा सकता। प्रस्तुत प्रयास इसी लक्ष्य को सामने रखते हुए किया गया है।'

डा० माताप्रसाद जी गुप्त ने जिस सामग्री का ऊपर उल्लेख किया है उसके अतिरिक्त जयपुर के श्री रतन सारस्वत की प्रति तथा मसाचुसेट्स के होफर सग्रह में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति के पृष्ठों का भी उपयोग किया है। कृति की भूमिका में सपादक ने आधारभूत सामग्री का विस्तार से परिचय दिया है तथा पाठ निर्धारण के अपने सिद्धान्तों को भी स्पष्ट किया है। उनके सिद्धान्त इतने वैज्ञानिक हैं कि उनसे असहमत होना असभव है। कृति में निर्धारित मूल पाठ के अतिरिक्त पाठान्तर भी बड़ी सावधानी से दिए गए हैं। और जिन कडवकों को प्रक्षिप्त समझा है, उन्हें परिशिष्ट में दे दिया गया है। भूमिका में दाऊद के समय, चादायन के रचनाकाल और स्थान, रचना के नाम-रूप, रचना की कथा और उसका आधार, रचना का सन्देश, तथा रचना की भाषा पर बहुत ही रोचक एव युक्तिपूर्ण विवेचन किया गया है। पिछले दशक में अनेक प्रेमकथाएँ प्रकाशित हुई हैं। कुछ के तो डा० माताप्रसाद जी गुप्त ने आलोचनात्मक सस्करण विद्वज्जगत् को दिए हैं, कुछ के सस्करण ऐसे विद्वानों ने दिए हैं जिनकी पहली रुचि अन्य विषयों में है किन्तु शौक ( हाबी ) साहित्य में भी है। कभी कभी इन सब कथाओं को सूफी प्रेमाख्यानक कह दिया जाता है। वास्तव में इनमें से अनेक विशुद्ध प्रेमकथाएँ हैं। गुप्तजी ने कथा और आख्यायिका के लक्षणों को सम्मुख रखकर 'चांदायन' की परीक्षा की है और निष्कर्ष निकाला है कि मसनवी शैली के कुछ तत्त्व प्रारभ में ही मिलते हैं अन्यथा 'चांदायन' भारतीय परपरा का कथाकाव्य है। 'चांदायन' में अनेक ऐसे वर्णन, अलकार प्रयोग परम्परा के दर्शन होते हैं जो अपभ्रश चरित काव्यों में भी मिलते हैं, इसी प्रकार प्रहेलिका तथा अनेक कथानक रूढ़िया भी ऐसी प्रयुक्त हुई हैं जो पूर्ववर्ती चरित काव्यों में मिलती हैं।

'चांदायन' का मूल आधार प्रसिद्ध लोककथा रही है जिसके अनेक क्षेत्रीय रूपान्तर पाए जाते हैं। गुप्त जी ने कुछ प्रचलित रूपान्तरों के साथ दाऊद की रचना का तुलनात्मक अध्ययन किया है और बताया है कि लोककथाओं में 'चांदायन' का जो रूप मिलता है उसमें दाऊद ने जहा तहाँ काव्योपयोगी परिवर्तन किए है।

'चांदायन' की भाषा की विशेषताओं का भी गुप्तजी ने सक्षेप में विश्लेषण किया है और उक्ति रत्नाकर तथा जायसी की भाषा से तुलना की है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि 'चांदायन' की भाषा जायसी की भाषा से मिलती जुलती है।

'चांदायन' के दूसरे सस्करणों से प्रस्तुत सस्करण का तुलनात्मक अध्ययन सम्मेलन पत्रिका के किसी अक में डा० श्याम मनोहर पाण्डे ने प्रकाशित कराया है। डा० माताप्रसाद जी गुप्त पाठालोचन के प्रकाण्ड पण्डित हैं अत यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उनका सस्करण श्रेष्ठतम है। इस महत्त्वपूर्ण कृति के आलोचनात्मक सस्करण से एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है।

—रामसिंह तोमर

जयपुर